श्री योगीन्दुदेवविरचित—

योगसार टीका।

भाषा टीकाकार—

श्रीमान् ब्रह्मचारी सीतलप्रसादजी।

[प्रवचनसार, नियमसार, समयसार, तत्वसार, पंचास्तिकाय, स्वयंभूस्तोत्र, तत्वभावना, समाधिशतक, इष्टोपदेश, सहजसुख-साधन, जैनधर्म प्रकाश, जैनधर्ममें अहिंसा आदि २ के टीकाकार व संपादनकर्ता]

प्रकाशक—

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,

मालिक, दिगंबरजैनपुस्तकालय, गांधीचौक-सूरत।

डबका (पादरा, बड़ौदा) निवासी स्व० सेठ कालीदास अमथाभाई स्मारक फंडसे उनके सुपुत्र सेठ सोभागचन्दकी ओरसे "जैनमित्र" के ४१ वे वर्षके ग्राहकोंको भेट।

प्रथमावृत्ति] वीर सं० २४६७ [प्रति १२५०

मूल्य—रु० १-१२-०

भूमिका ।

यह योगसार ग्रथ आत्माके मननको परम उपकारी है । इसमे निश्चयनयकी प्रधानतासे अपने ही आत्माको परमात्मा समान श्रद्धान करके उसीके ध्यानका उपदेश है । आत्माका अनुभव ही मोक्षका मार्ग है । पद पदपर यही भाव झलकाया है । परमश्रुत-प्रभावकमण्डल वम्बई द्वारा प्रकाशित परमात्म प्रकाशमें योगसारकी सामान्य शब्दार्थ टीका है, अल्पज्ञोंके लिये भाव प्रगट करनेमे बहुत सकुचित है । दूसरी कोई बड़ी भाषाटीका न देखकर हमने विस्तारसे भाव खोलनेका उद्यम किया है । अल्पबुद्धि होनेपर भी महान साहस करके अध्यात्म मननके हेतुसे इस कार्यका सम्पादन किया है । बुद्धिपूर्वक प्राचीन जिन आगमके अनुकूल ही विवेचन किया है । प्रमादसे व अज्ञानसे कहीं पर त्रुटि हो तो विद्वान् क्षमावान होकर शुद्ध कर लेगे ऐसी आशा है ।

इस ग्रंथके मूलकर्ता श्री योगेन्द्र आचार्य है, जैसा अन्तिम दोहा गाथासे प्रगट है । यह बडे योगिराज थे । इनका रचित बृहत् ग्रंथ परमात्म प्रकाश है, जिसकी संस्कृत टीका ब्रह्मदेवकृत व भाषा-टीका पं० दौलतरामजी कृत बहुत ही बढिया है । योगसार पर कोई संस्कृत टीका उपलब्ध नहीं है ।

इन परम अध्यात्मरसी योगिराज कृत दो ही ग्रंथ प्राप्त हैं। जैसे श्रीयुत् प० आदिनाथ उपाध्याय एम० ए० ने परमात्म प्रकाशकी विद्वत्तापूर्ण भूमिकामें प्रगट किया है। वहीं यह भी चर्चा की है कि योगेन्द्राचार्यका समय क्या था। स्पष्ट लेख न मिलनेसे अनुमान किया गया है कि श्री पूज्यपादके पीछे उनका समय छठी शताब्दी होगा।

पाठकगणोंको उचित है कि एक एक दोहा गाथाका ध्यानसे मनन करें। एक एक दोहाका व्याख्यान एक स्वतंत्र लेख रूप ही है, जिसके पढ़नेसे आत्मज्ञान व आनन्दका लाभ होगा।

बम्बई,
आविकाश्रम,
१२ जून १९३०

आत्मरसप्रेमी,
ब्र० सीतलप्रसाद।

निवेदन ।

करीब १४०० वर्ष पहले दि० जैन समाजमें अध्यात्मप्रेमी महान आचार्य श्री योगीन्दुदेव होगये हैं, जिन्होंने श्री परमात्मप्रकाश, योगसार, अध्यात्मसंदोह, सुभाषिततंत्र, तत्वार्थटीका, नौकार श्रावकाचार आदि ग्रन्थ अपभ्रंश व संस्कृत भाषामें रचे थे, जिनमें परमात्मप्रकाश और योगसार ये दोनों अध्यात्म ग्रन्थ जो अपभ्रंश भाषामें हैं उनका दि० जैन समाजमे विशेष आदर है तथा ये दोनों ग्रन्थ संस्कृत छाया व हिंदी अनुवाद सहित प्रकट होचुके हैं। लेकिन योगसार टीका जो कलकत्तासे प्रकट हुई थी, कई वर्षोंसे नहीं मिलती थी। तथा बम्बईसे अभी योगसार प्रकट हुआ है, उसमे सिर्फ संस्कृत छाया व शब्दार्थ ही है। अतः योगसार ग्रन्थकी टीका प्रकट होनेकी आवश्यक्ता थी और श्री० ब्र० सीतलप्रसादजीको अध्यात्म ग्रन्थों पर ही विशेष प्रेम है और आप किसी न किसी अध्यात्मग्रन्थका अनुवाद व टीका करते ही रहते हैं। अत यद्यपि आप कंपवायुसे दो वर्षसे पीडित होरहे हैं तौ भी आपने दाहौद, अगास व बडौदामे ठहरकर इस ग्रन्थके १-१ श्लोककी टीका नित्य लिखनेका नियम करके उसे पूरा किया था जो आज प्रकाशमे आरहा है। धन्य है आपकी अध्यात्म रुचि।

आज दि० जैन समाजमें आप जैसे कर्मण्य ब्रह्मचारी दूसरे नही हैं। अभी आप लखनऊमें विशेष रोगग्रसित हैं तौ भी आपका अध्यात्मप्रेम कम नही हुआ है और जैनमित्रके लिये अध्यात्मिक १-१

लेख दूसरेसे लिखवाकर भी प्रकट करवाते रहते है। तथा कुछ दिन हुए " जैन धर्मसे दैव व पुरुषार्थ " ग्रन्थ भी रात्रिको टटरकर लिख कर व लिखवाकर तैयार किया है यह जानकर किसे प्रसन्नता न होगी ? लेकिन साथमे दुःख भी होगा कि आपका कमवायु रोग अच्छा नहीं होता। अतः आपको अधिकाधिक शारीरिक कष्ट होरहा है। आप शीघ्र ही आरोग्यलाभ करके चिरायु हों यही हमारी श्री जिनेंद्रदेवसे प्रार्थना है।

इस ग्रन्थराजके रचयिता श्री योगीन्दुदेवका संक्षिप्त परिचय भी ग्रन्थके प्रारम्भमे दिया है जो श्री० पं० परमेष्ठिदासजी न्यायतीर्थने 'परमात्मप्रकाश' की प्रस्तावनासे संकलित किया है।

इस ग्रन्थको प्रकट करके "जैनमित्र" के ४१ वे वर्षके ग्राहकोंको भेट देनेकी जो व्यवस्था डबका निवासी नृसिहपुरा जातिके अध्यात्म-प्रेमी सेठ सोभागचंदजीने अपने स्व० पूज्य पिताश्री सेठ कालीदास अमथाभाईके स्मारकफंडमेंसे की है उसके लिये वे अतीव धन्यवादके पात्र हैं। तथा ऐसे ही शास्त्रदानकी जैनसमाजमे आवश्यक्ता है। आशा है आपके शास्त्रदानका अनुकरण अन्य श्रीमान भी करेंगे। जो 'जैनमित्र' के ग्राहक नही हैं उनके लिये इस ग्रंथकी कुछ प्रतिया विक्रयार्थ भी निकाली गई हैं। आशा है कि उनका भी शीघ्र प्रचार होकर इसकी दूसरी आवृत्ति प्रकट करनेका मौका प्राप्त होगा।

निवेदक—

सूरत—वीर स० २४६७
कार्तिक सुदी १५ गुरुवार
ता०—१४—११—४०

मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
—प्रकाशक।

योगसारके कर्ता—

श्रीमद् योगीन्दु देव।

जैन साहित्यमे श्री० योगीन्दु देवका बहुत ऊँचा स्थान है। उनने उच्चकोटिकी रचनाओंमे प्रयुक्तकी जानेवाली सस्कृत तथा प्राकृत भाषाको छोडकर उस समयकी प्रचलित भाषा अपभ्रंशको अपनाया और उसीमे अपने ग्रंथ निर्माण किये थे। प्राचीन ग्रथकारोंने जो कुछ सस्कृत और प्राकृतमे लिखा था उसे ही योगीन्दुदेवने बहुत सरल ढंगसे अपने समयकी प्रचलित भाषामे गूथा था। योगीन्दुदेवने श्री कुन्दकुन्दाचार्य और श्री पूज्यपादसे बहुत कुछ लिया था।

यह बडे ही दुःखकी बात है कि जोइन्दु (योगीन्दु) जैसे महान् अध्यात्मवेत्ताके जीवनके सम्बंधमे विस्तृत वर्णन नही मिलता। श्रुतसागर उन्हे भट्टारक लिखते है. किन्तु इसे केवल आदर सूचक शब्द समझना चाहिये। उनके ग्रथोंमे भी उनके जीवन तथा स्थानके बारेमे कोई उल्लेख नही मिलता। उनकी रचनाये उन्हे आध्यात्मिक राज्यके उन्नत सिहासनपर बिराजमान एक शक्तिशाली आत्माके रूपमे चित्रित करती है। वे आध्यात्मिक उत्साहके केन्द्र है।

परमात्मप्रकाशमे उनका नाम जोइन्दु आता है। श्री०जयसेनने "तथा योगीन्द्रदेवैरप्युक्तम्" करके परमात्मप्रकाशसे एक पद्य उद्धृत किया है। ब्रह्मदेवने अनेक स्थानोंपर ग्रथकारका नाम योगीन्द्र लिखा है। "योगीन्द्रदेवनाम्ना भट्टारकेण" लिखकर श्री श्रुतसागर एक पद्य उद्धृत करते है। कुछ प्रतियोमे योगेन्द्र भी पाया जाता है। इसप्रकार उनके नामका सस्कृतरूप 'योगीन्द्र' बहुत प्रचलित रहा है।

शब्दों तथा भावोंकी समानता होनेसे योगसार भी 'जोइन्दु' की रचना माना गया है। इसके अन्तिम पद्यमे ग्रंथकारका नाम

'जोगिचन्द्र' लिखा है, किन्तु यह नाम योगीन्द्रसे मेल नहीं खाता। अतः मेरी रायमे 'योगीन्द्र' के स्थानमे 'योगीन्दु' पाठ है, जो 'योगिचन्द्र' का समानार्थक है।

ऐसे अनेक दृष्टांत है, जहां व्यक्तिगत नामोंमे इन्दु और चन्द्र आपसमे बदल दिये गये है। जैसे भागेन्दु और भागचन्द्र तथा शुभेन्दु और शुभचन्द्र। गलतीसे जोइन्दुका सस्कृतरूप योगीन्द्र मान लिया गया और वह प्रचलित होगया। ऐसे बहुतसे प्राकृत शब्द है जो विभिन्न लेखकोंके द्वारा गलत रूपमे तथा प्रायः विभिन्न रूपोंमे सस्कृतमे परिवर्तित किये गये है। योगसारके सम्पादकने इस गलतीका निर्देश किया था, किन्तु उन्होंने दोनो नामोंको मिलाकर एक तीसरे 'योगीन्द्रचन्द्र' नामकी सृष्टि कर डाली, और इस-तरह विद्वानोंको हसनेका अवसर दे दिया। किन्तु यदि हम उनका नाम जोइन्दु योगीन्दु रखते है, तो सब बाते ठीक ठीक घटित होजाती है।

योगीन्दुकी रचनाएँ—श्री योगीन्दुदेवके रचित निम्नलिखित ग्रन्थ कहे जाते है–१ परमात्मप्रकाश (अपभ्रंश), २ नौकार श्रावकाचार (अप०), ३ योगसार (अप०), ४ अध्यात्म सन्दोह (संस्कृत), ५ सुभाषित तंत्र (स०), ६ तत्त्वार्थ टीका (स०)। इनके सिवाय योगीन्दुके नामपर ३ और ग्रन्थ भी प्रकाशमे आचुके है—एक दोहापाहुड (अप०), दूसरा अमृताशीति (स०) और तीसरा निजात्माष्टक (प्रा०) इनमेसे न० ४ और ५ के बारेमे कुछ मालूम नही है और नं० ६ के बारेमे योगदेव, जिन्होने तत्त्वार्थसूत्रपर सस्कृतमें टीका बनाई है, और योगीन्दुदेव नामोंकी समानता सन्देहमे डाल देती है।

योगसार—इसका मुख्य विषय परमात्म प्रकाशका सा ही है। इसमे ससारकी प्रत्येक वस्तुसे आत्माको सर्वथा पृथक् अनुभवन करनेका उपदेश दिया गया है। ग्रथकार कहते है कि ससारसे

स्व० सेठ कालीदास अमथाभाई-डबकाका संक्षिप्त परिचय।

वडौदा राज्यके वडौदाप्रातके पादरा तालुकामे मही नदीके तटपर डबका नामका गाव है। वहापर दि० जैन नृसिहपुरा जातिमे सवत् १९१२ वैशाख वदी १३ रविवारके दिन रात्रिको १२॥ वजे आपका जन्म हुआ था। आपके पिताका नाम शाह अमथाभाई वहेचरदास था और माताका नाम मोतीबाई था। बडे भाईका नाम त्रिभोवनदास अमथाभाई था, जिनको बाल्यावस्थामे पिताका स्वर्गवास होनेसे घरकी व्यवस्थाका काम करनेकी फरज पडनेसे और गावमे दूसरी भाषा (अग्रेजी) का प्रबन्ध नहीं होनेसे सिर्फ गुजरातीका आपने अभ्यास किया था। लेकिन वाचनकार्य अधिक होनेसे हिंदी भाषा और सरल सस्कृत भी आप समझ सकते थे। आपका विवाह भडौच जिलेके बागरा गावमे मोतीलाल हरजीवनकी बहिन पार्वतीके साथ हुआ था और द्वितीय विवाह भडौच जिलेके 'अणोर' गावके शाह शिवलाल रायचदजीकी बहिन उमियाबाई (जमनाबाई) के साथ हुआ था।

किसी भी व्यक्तिकी महत्ता धनाढ्य होनेमे या विविध भाषाके विद्वान होनेमे नही है, किन्तु मोक्षमार्गका यथार्थ बोध प्राप्त करनेमे है। उस समय गुजरातमे देव, गुरु, धर्म और सप्ततत्वका यथार्थ ज्ञानी श्रद्धानी शायद कोई भी नही था। सिर्फ गतानुगतिकता पूजा, व्रत, उपवास, विना हेतु समझे बाह्य क्रियाकांडमे मचा हुआ था। यथार्थ श्रद्धान, ज्ञानादि प्राप्त करनेका कोई निमित्त नहीं था, ऐसे

समयमे उनके समागममे आनेवालों पर छाप पडे ऐसा ज्ञान-अध्यात्मज्ञान आपने सम्पादन किया था। उनके अध्यात्म प्रेमसे आकर्पित होकर श्वेताम्बर मुनि श्री हुकमचन्द्रजीने अपने बनाये हुए अध्यात्म प्रकरण और ज्ञान प्रकरण ये दो ग्रन्थ आपको भेट किये थे।

स्वाध्याय करनेकी रुचि होनेसे दिगम्बर जैन धर्मके महत्त्वपूर्ण छपे हुए सभी ग्रन्थ आप मंगाया करते थे, वैसे ही श्वेताम्बरोके वेदांतक और बौद्ध धर्मके भी ग्रन्थ मगाया करते थे। इससे आपके घरमे छोटासा पुस्तकालय बन गया था। मासिक पत्रोंमे उनको 'जैनहितैपी' खास प्रिय था। उसमे भी प्रेमीजीके लेख आप बहुत रुचिपूर्वक पढते थे।

जब जब संसारी कामोंसे निवृत्ति मिलती थी तब तब आप अपने मगाये हुए तात्विक ग्रन्थ पढ़ते थे, या कवि बनारसीदासजी कृत समयसारके काव्य, बनारसीदासजी, भूधरदासजी, भगवतीदासजी, आनन्दघन, हीराचन्दजी आदिके बनाये हुए खास करके अध्यात्मिक पद गाते थे। सम्मेदशिखर, गिरनार, पावागढ आदि तीर्थक्षेत्रोंकी यात्रा आपने की थी। इस तरह जीवन व्यतीत करते हुए आपने सम्वत् १९८८की आश्विन शुक्ल चतुर्दशीकी रात्रिके १० बजे णमोकार मत्रका उच्चारण करते २ देह छोड दिया था व देह त्यागके पहले कई दिन पूर्व अपनी पूर्ण सावधानीमे आपने जैनोकी भिन्न२ संस्थाओंको २०००)का दान दिया था, उसी दानसे "जम्बूस्वामीचरित्र" २ वर्ष हुए प्रकट किया गया था और अब यह **योगसार टीका** ग्रन्थ जो कि आपको बहुत प्रिय था और उसके कई दोहे आप स्मरण किया करते थे वह प्रकट किया जा रहा है।

—प्रकाशक।

विषय-सूची

क्रम	विषय	पृष्ठ

सिद्धोंको नमस्कार।

णिम्मलझाणपरिट्ठिया कम्मकलंक डहेवि।
अप्पा लद्धउ जेण परु ते परमप्प णवेवि ॥ १ ॥

अन्वयार्थ (जेण) जिन्होंने (णिम्मलझाणपरिट्ठिया) शुद्ध ध्यानमें स्थित होते हुए (कम्मकलंक डहेवि) कर्मोंके मलको जला डाला है (परु अप्पा लद्धउ) तथा उत्कृष्ट परमात्म पदको पा लिया है (ते परमप्प णवेवि) उन सिद्ध परमात्माओंको नमस्कार करता हूं।

भावार्थ—यहां ग्रंथकर्ताने मङ्गलाचरण करते हुए सर्व सिद्धोंको नमस्कार किया है। सिद्धपद शुद्ध आत्माका पद है। यहां आत्मा अपने ही निजस्वभावमें सदा मगन रहता है। आत्मा शुद्ध सुवर्णके समान निर्मल रहता है। आत्मा द्रव्य गुणोंका अभेद समूह है। सर्व ही गुण वहां पूर्ण प्रकाशित रहते हैं। सिद्ध भगवान पूर्ण ज्ञानी हैं, परम वीतराग हैं, अतीन्द्रिय सुखके सागर हैं, अनन्तवीर्य-धारी हैं, जड़ संग रहित अमूर्तीक हैं, सर्व विकल्प रहित निर्विकल्प हैं। अपनी ही स्वाभाविक परिणतिके कर्ता हैं, परमानन्दके भोक्ता हैं, परम कृतकृत्य हैं। सर्व इच्छाओंसे शून्य हैं, पुरुषाकार हैं। जिस शरीरसे सिद्ध हुए हैं उस शरीरमें जैसा आत्माका आकार था वैसा ही आकार बिना संकोच विस्तारके सिद्धपदमें रहता है, इन-शोंकी मापसे असंख्यात प्रदेशी हैं। सिद्धको ही परमेश्वर, शिव, परमात्मा, परमदेव कहते हैं। वे एकाकी आत्मारूप हैं, जैसा सर्व आत्मद्रव्य है वैसा ही सिद्ध स्वरूप है। सिद्ध परमात्मा अनेक हैं, जो संसारी आत्मा शुद्ध आत्माका अनुभव पूर्वक ध्यान करता है। मुनिपदमें अन्तर बाहर निर्ग्रंथ होकर पहले धर्मध्यान फिर शुक्ल

ध्यानको ध्याता है। इस शुक्ल ध्यानके प्रतापसे पहले अरहंत होता है फिर सर्व कर्ममल जलाकर सिद्ध होता है। ऊर्द्ध गमन स्वभावसे लोकके अग्रमे जाकर सिद्ध आत्मा ठहरता है। धर्मद्रव्यके बिना अलोकाकाशमे गमन नही होता है। सर्व ही सिद्ध उस सिद्ध क्षेत्रमे अपनी२ सत्ताको भिन्न२ रखते है। सर्व ही अपने२ आनन्दमे मगन है, वे पूर्ण वीतराग है। इससे फिर कभी कर्मबंधसे बंधते नही। इसीलिये फिर संसार अवस्थामे कभी आते नहीं। वे सर्व संसारके क्लेशोंसे मुक्त रहते है। वे ही निर्वाण प्राप्त हैं। सिद्धोंके समान जो कोई मुमुक्षु अपने आत्माको निश्चयसे शुद्ध आत्मद्रव्य मानकर व रागद्वेष त्याग कर उसी निज स्वरूपमे मगन होजाता है वही एक दिन शुद्ध होजाता है।

ग्रंथकर्ताने सिद्धोंको सबसे पहले इसीलिये नमस्कार किया है कि भावोंमे सिद्ध समान आत्माका बल आजावे। परिणाम शुद्ध व वीतराग होजावे। शुद्धोपयोग मिश्रित शुभ भाव होजावे जिससे विघ्नकारक कर्मोका नाश हो व सहायकारी पुण्यका बन्ध हो। मङ्गल उसे ही कहते है जिससे पाप गले व पुण्यका लाभ हो। मङ्गलाचरण करनेसे शुद्ध आत्माकी विनय होती है। उद्धतताका व मानका त्याग होता है। परिणाम कोमल होते है। शांति व सुखका झलकाव होता है।

यह अध्यात्मीक ग्रंथ है–आत्माको साक्षात् सामने दिखानेवाला है। शरीरके भीतर बैठे हुए परमात्मदेवका दर्शन करानेवाला है। इसलिये ग्रंथकर्ताने सिद्धोको ही पहले स्मरण किया है। इससे झलकाया है कि सिद्ध पदको पानेका ही उद्देश है। ग्रंथ लिखनेसे और किसी फलकी वाछा नही है–सिद्ध पदका लक्ष्य ही सिद्ध पदपर पहुँचा देता है।

परम योगी-श्री कुन्दकुन्दाचार्यजीने भी **समयसार** ग्रन्थकी आदिमे सिद्धोको ही नमस्कार किया है। वे कहते ह—

वंदित्तु सव्व सिद्धे धुवममलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समय पाहुड मिणमो सुदकेवली भणिदं ॥ १ ॥

भावार्थ—नित्य, शुद्ध, अनुपम, सिद्धगतिको प्राप्त, सर्व सिद्धोंको नमन करके मैं श्रुतकेवली कथित समय प्राभृतको कहूंगा।

योगेन्द्राचार्यने **परमात्मप्रकाश** ग्रंथको प्रारम्भ करते हुए इसी तरह पहले सिद्धोंको ही नमन किया है।

जे जाया झाणग्गियए कम्मकलंक डहेवि।
णिच्च णिरंजन णाणमय ते परमप्प णवेवि ॥ १ ॥

भावार्थ—जो ध्यानकी आगसे कर्म-कलंकको जलाकर नित्य, निरंजन, तथा ज्ञानमय होगये ह, उन सिद्ध परमात्माओंको नमन करता हू।

श्री पूज्यपादस्वामीने भी **समाधिशतक**को प्रारम्भ करते हुए पहले सिद्ध महाराजको ही नमन किया है।

येनात्मा बुध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम्।
अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नम ॥ १ ॥

भावार्थ—जिसने अपने आत्माको आत्मारूप व परपदार्थको पररूप जाना है तथा इस भेदविज्ञानसे अक्षय व अनन्त केवलज्ञानका लाभ किया है, उस सिद्ध परमात्माको नमस्कार हो।

श्री देवसेनाचार्यने भी **तत्वसार**को प्रारम्भ करते हुए सिद्धोंको ही नमस्कार किया है।

झाणग्गिदड्ढकम्मे णिम्मलविसुद्धलद्धसब्भावे।
णमिऊण परमसिद्धे सु तच्चसारं पवोच्छामि ॥ १ ॥

भावार्थ—ध्यानकी आगसे कर्मोंको जलानेवाले व निर्मल शुद्ध निज स्वभावको प्राप्त करनेवाले सिद्ध परमात्माओंको नमन करके तत्वसारको कहूंगा।

पूज्यपादस्वामीने इष्टोपदेश ग्रंथकी आदिमें ऐसा ही किया है—

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः।
तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥ १ ॥

भावार्थ—सर्व कर्मोंको क्षय करके जिसने स्वयं अपने स्वभावका प्रकाश किया है उस सम्यग्ज्ञान स्वरूप सिद्ध परमात्माको नमन हो। नमस्कारके दो भेद हैं—भाव नमस्कार, द्रव्य नमस्कार। जिसको नमस्कार किया जावे उसके गुणोंको भावोंमें प्रेमसे धारण करना भाव नमस्कार है। बचनोंसे व कायसे उस भीतरी भावका प्रकाश द्रव्य नमस्कार है। भाव सहित द्रव्य नमस्कार कार्यकारी है।

अरहंत भगवानको नमस्कार।

घाइचउक्कह किउ विलउ अणंतचउक्कपदिट्ठु।
तहिं जिणइंदहं पय णविवि अक्खमि कव्वु सुइट्ठु ॥२॥

अन्वयार्थ—(घाइचउक्कहं विलउ किउ) जिसने चार घातीय कर्मोंका क्षय किया है (अणंतचउक्कपदिट्ठु) तथा अनंतचतुष्टयका लाभ किया है (ताहिं जिणइंदहं पय) उस जिनेन्द्रके पदोंको (णविवि) नमस्कार करके (सुइट्ठु कव्वु) सुन्दर प्रिय काव्यको (अक्खमि) कहता हूं।

भावार्थ—अरहंत पदधारी तेरहवे गुणस्थानमे प्राप्त सयोग व अयोग केवली जिनेन्द्र होते है। जब यह अज्ञानी जीव तत्वज्ञानका

मनन करके मिथ्यात्व कर्मको व सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त प्रकृति कर्मको अर्थात् तीनों दर्शन मोहनीयकर्मोंको तथा चार अनन्तानुबंधी कषायोंको उपशम, क्षयोपशम या क्षय कर देता है, तब चौथे अविरत सम्यक्त गुणस्थानमे प्राप्त हो **जिन** कहलाता है। क्योंकि उसने संसार भ्रमणके कारण मिथ्यात्वको व मिथ्यात्व सहित राग-द्वेष विकारको जीत लिया है, उसका उद्देश्य पलट गया है, वह संसारसे वैराग्यवान व मोक्षका परमप्रेमी होगया है। उसके भीतर निर्वाणपद लाभकी तीव्र रुचि पैदा होगई है। क्षायिक सम्यक्ती जीव श्रावक होकर या एकदम मुनि होकर सातवे अप्रमत्त गुणस्थान-तक धर्मध्यानका अभ्यास पूर्ण करता है। फिर क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होकर दसवे सूक्ष्ममोह गुणस्थानके अन्तमे चारित्र मोह-नीयका सर्व प्रकार क्षय करके बारहवे गुणस्थानमे **क्षीणमोह जिन** हो जाता है।

चौथेसे बारहवे गुणस्थान तक जिन संज्ञा है, फिर बारहवेके अन्तमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण व अन्तराय तीन शेष घातीय कर्मोंका क्षय करके अरहन्त सयोग केवली हो, तेरहवे गुणस्थानमे प्राप्त होता है तब वह जिनेन्द्र कहलाते है। यहा चारो घातीय कर्मोंका अभाव है। उनके अभावसे अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतदान, अनंत-लाभ, अनंतभोग, अनंतउपभोग, अनंतवीर्य, क्षायिक सम्यग्दर्शन, क्षायिक चारित्र ये नौ केवल लब्धियां तथा अनंतसुख प्राप्त हो जाते है। इन दशको चार अनंत चतुष्टयमे गर्भित करके अनंतज्ञान, अनंत-दर्शन, अनन्तवीर्य व अनन्तसुखको यहा प्राप्त करना कहा है। सम्यक्त व चारित्रको सुखमे गर्भित किया है। क्योंकि उनके विना सुख नही होता है व अनन्तदानादि चारको अनन्तवीर्यमे गर्भित किया है, क्योंकि वे उसीकी परिणतियाँ है। इसतरह अनन्त चतुष्टयमे

दर्शां गुण गर्भित हे। सयोग केवली अवस्थामे अरहन्त धर्मोपदेश करते है उनकी दिव्यवाणीका अद्भुत प्रकाश होता है, जिसका भाव सर्व ही उपस्थित देव, मानव व पशु समझ लेते है। सबका भाव निर्मल व आनन्दमय व सन्तोषी हो जाता है।

उसी वाणीको धारणामे लेकर चार ज्ञानधारी गणधर मुनि आचाराग आदि द्वादश अंगोंमे गूंथते है। उस द्वादशांग वाणीको परंपरामे अन्य आचार्य समझते है। अपनी बुद्धिके अनुसार धारणामे रखकर दिव्य वाणीके अनुसार अन्य ग्रन्थोंकी रचना करते है। उन ग्रंथोंसे ही सत्यका जगतमे प्रचार होता है। सिद्धोंके स्वरूपका ज्ञान भी व धर्मके सर्व भेदोंका ज्ञान जिनवाणीसे ही होता है। जिसके मूल वक्ता अरहंत हैं। अतएव परमोपकार समझकर अनादि मूल मत्र णमोकार मंत्रसे पहले अरहन्तोंको नमस्कार किया हैं, फिर सिद्धोंको नमन किया है। अरहत पदधारी तीर्थकर व सामान्य केवली दोनों होते है। तीर्थकर नामकर्म एक विशेष पुण्यप्रकृति हैं। जो महात्मा दर्शनविशुद्धि आदि षोडशकारण भावनाओंको उत्तम प्रकारसे ध्याय कर तीर्थकर नामकर्म बाधते है वे ही तीर्थकर केवली होते है। ऐसे तीर्थकर परिमित ही होते है। भरत व ऐरावत क्षेत्रोंमें हरएक अवसर्पिणी व उत्सर्पिणी कालमे चौवीस चौवीस होते है। विदेहोंमे सदा ही होते रहते हे। वहां कमसे कम बीस व अधिकसे अधिक एक सौ साठ होते है। भरत व ऐरावतके तीर्थकरोंके गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाण पांचों कल्याणक उत्सव इंद्रादि देव करते है, क्योंकि वे पहले ही तीर्थकर कर्म बांधते हुए गर्भमें आते हैं। विदेहोंमे कोई २ महात्मा श्रावक पदमे कोई २ साधु पदमे तीर्थकर कर्म बांधते हे। इसलिये वहां किन्हींके तप, ज्ञान, निर्वाण तीन व किन्हींके ज्ञान, निर्वाण दो ही कल्याणक होते हैं।

तीर्थकरोंके विशेष पुण्यकर्मका विपाक होता है इससे **समवसरण**-की विशाल रचना होती है। श्री मण्डपमे भगवानकी गधकुटीके चारोंतरफ वारह सभाएं भिन्न२ लगती हैं उनमे कमसेकम वारह प्रकारके प्राणी नियमसे बैठते है।

समवसरण स्तोत्रमे विष्णुसेन मुनि कहते हैं—

ऋषिकल्पजवनितार्याज्योतिर्वनभवनयुवतिभावनजा ।
ज्योतिष्ककल्पदेवा नरतिर्यंचो वसंति तेष्वनुपूर्वम् ॥ १९ ॥

भावार्थ—उन वारह सभाओमे क्रमसे १ ऋपिगण, २ स्वर्गवासी देवी, ३ आर्यिका साध्वी, ४ ज्योतिषियोंकी देवी, ५ व्यतरदेविया, ६ भवनवासी देवियां, ७ भवनवासी देव, ८ व्यतरदेव, ९ ज्योतिषी देव, १० स्वर्गवासी देव, ११ मनुष्य, १२ तिर्यच बैठते है। इससे सिद्ध है कि आर्यिकाओंकी सभा अन्य श्राविकाओंसे भिन्न होती है उनकी मुद्रा श्वेत वस्त्र व पीछी कमण्डल सहित निराली होती है। शेप सर्व श्राविकाएं व अन्य स्त्रियां ग्यारहवे मनुष्यके कोठेमे बैठती है। साधारण सर्व स्त्री पुरुप मनुष्य कोठेमे व सर्व तिर्यंचनी व तिर्यंच पशुओंमे बैठते है।

सामान्य केवलियोंके केवल गधकुटी होती है। सर्व ही अरहंतोके अठारह दोष नहीं होते है व शरीर परमौदारिक सात धातु रहित स्फटिकके समान निर्मल होजाता है जिसकी पुष्टि योग वलसे स्वय आकर्षित विशेष आहारक वर्गणाओंसे होती है। भिक्षासे ग्रास रूप भोजन करनेकी आवश्यक्ता नहीं होती है। जैसे वृक्षोकी पुष्टि लेपाहारसे होती है। वे जैसे मिट्टी पानीको आकर्पण करते हे वैसे योगबलसे पुष्टिकारक स्कन्ध अरहंतके शरीरमे प्रवेश करते हैं। उनके शरीरकी छाया नहीं पडती हे, नख व केश नहीं वढते हैं।

दुष्टकर्ममल नाश होजाता है, अक्षरमय वाणी नहीं होती है, मेघकी गर्जनाके समान निरक्षरी ध्वनि निकलती है। भूख, प्यास, भय, पसीना नही होता है। हरएक प्राणीको समझानेकी क्रिया नहीं होती है। साधारण ध्वनि निकलती है। भूमिका स्पर्श नहीं होता है। इन्द्रियजनित सुख भी नहीं रहता है। अतीन्द्रिय स्वाधीन सुख होता है। शरीरकी छाया नहीं पडती है। इन्द्रियोंकी प्रभा नहीं रहती है। आतापकारी सूर्यकी भी प्रभा नहीं होती है। वहाँ अनन्तचतुष्टय प्रकट होते है, तब स्फटिकके समान तेजस्वी शरीरकी मूर्ति होजाती है। सात धातुए नहीं रहती ह। दोषोंका क्षय हो जाता है। १ भूख, २ प्यास, ३ भय, ४ राग, ५ द्वेष, ६ मोह, ७ चिन्ता, ८ जरा, ९ रोग, १० मरण, ११ पसीना, १२ खेद, १३ मद, १४ रति, १५ आश्चर्य, १६ जन्म, १७ निद्रा, १८ विषाद ये अठारह दोष तीन जगतके प्राणियोमे साधारण पाए जाते है। जिनमे ये दोष होते है उनको संसारी प्राणी कहते है। जो इन दोषोंसे रहित है वही निरञ्जन आप्त अरहंत होता है।

समवसरण स्तोत्रमे उक्त च गाथा है—

पुव्वह्णे मज्झह्णे अवरह्णे मज्झिमाय रत्तीए।
छहछहघडियाणिग्गयदिव्वज्झुणणी कहइ सुत्तत्थं ॥ १ ॥

भावार्थ—समवसरणमे श्री तीर्थंकर भगवानकी दिव्यवाणी सवेरे, दोपहर, साझ, मध्यरात्रि इसतरह चार दफे छः छः घडी तक सूत्रार्थको प्रगट करती हुई निकलती है।

तेरहवे गुणस्थानको सयोग इसलिये कहते है कि वहा योग-शक्तिका परिणमन होता है जिससे कर्म नोकर्मवर्गणाओका ग्रहण होता है, आत्माके प्रदेश चञ्चल होते है। इस चञ्चलताके निमित्त

सात प्रकार योग होते है–सत्य मनोयोग, अनुभय मनोयोग, सत्य वचनयोग, अनुभय वचनयोग, औदारिक काययोग, केवलि समुद्घातमे ही होनेवाले औदारिक मिश्र काययोग और कार्मणयोग। भाव मनका काम नहीं होता है, क्योंकि श्रुतज्ञान व चिन्ता व तर्कका कोई काम नही रहता है। मनोवर्गणाका ग्रहण होनेपर द्रव्य मनमें परिणमन होता है। इसी अपेक्षा मनोयोग कहा है। वाणी खिरती है, विहार होता हैं। केवली समुद्घातमें लोकाकाश प्रमाण आत्म-प्रदेश फैलते हैं। यह तेरहवा गुणस्थान आयुपर्यंत रहता है। जब इतना काल आयुमे शेष रहता है जितना काल अ, इ, उ, ऋ, ऌ इन पांच लघु अक्षरोंके बोलनेमे लगता है तब अयोग केवली जिन होजाते है, चौदहवां गुणस्थान होजाता है। यहां योग काम नही करता है, अन्तके दो समयमे चार अघातीय कर्मोंकी ८५ प्रकृतियोंका क्षय करके सिद्ध व अशरीर होकर सिद्ध क्षेत्रमे जाकर बिराजते हैं। तेरहवे गुणस्थानमे १४८ कर्मप्रकृतियोमेसे ६३ कर्मप्रकृतियोंका नाश हो चुकता है वे ६३ है—

४७ चार घातियाकी—५ ज्ञा० + ९ दर्शना० + २८ मोह० + ५ अत० तथा १६ अघातीयकी—नरक तिर्यंच देवायु ३ + नरक-गति + नरक गत्यानुपूर्वी, + तिर्यंचगति, + तिर्यंचगत्या० + एक, दो, तीन, चार इंद्रियजाति ४ + उद्योत + आतप + साधारण + सूक्ष्म + स्थावर ॥

ग्रंथकर्ताने अपने शास्त्रज्ञानके मूल श्रोत रूप अरहंत भगवानको परोपकारी जान कर नमस्कार किया है व ग्रंथको कहनेकी प्रतिज्ञा की है—

ग्रन्थको कहनेका निमित्त व प्रयोजन ।

संसारहं भयभीयाहं मोक्खह लालसियाहं ।
अप्पासंबोहणकयइ कय दोहा एक्कमणाहं ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ—(**संसारहं भयभीयाहं**) संसारसे भय रखनेवालोंके लिये व (**मोक्खहं लालसियाहं**) मोक्षकी लालसा धारण करनेवालोंके लिये (**अप्पासंबोहणकयइ**) आत्माका स्वरूप समझानेके प्रयोजनसे (**एक्कमणाहं**) एकाग्र मनसे (**दोहा कय**) दोहोकी रचना की है।

भावार्थ—जिसमे अनादिकालसे चार गतियोंमे संसरण या भ्रमण जीवोंका होरहा हो उसको ससार कहते है। चारों गतियोंमे क्लेश व चिंताएं रहती हैं, शारीरिक व मानसिक दुःख जीवको कर्मोंके उदयसे भोगने पडते हे। जन्म व मरणका महान क्लेश तो चारों ही गतियोंमे है, इसके सिवाय नरकमे आगमके प्रमाणसे तीव्र शारीरिक व मानसिक दुःख जीवको बहुत काल सहने पडते है। वहा दिन रात मार धाड रहती है, नारकी परस्पर नाना प्रकार शरीरकी अपृथग् विक्रियासे पशु रूप व शस्त्रादि बनाकर दुःख देते है व सहते हैं। तीसरे नरक तक सक्लेश परिणामोंके धारी असुरकुमार देव भी उनको लड़ाकर क्लेश पहुचाते है। वैक्रियिक शरीर होता है। पारेके समान गलकर फिर बन जाता है। तीव्र भूख प्यासकी वेदना सहनी पडती है। नारकी नरकके भीतर रत नहीं होते है, इसीलिये वे स्थान नरत व नरक कहलाते है।

तिर्यच गतिमे एकेन्द्रिय स्थावर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति आदिक प्राणियोंको पराधीनपने व निर्बलतासे घोर कष्ट सहने पड़ते हे। मानव पशुगण सर्व ही इनका व्यवहार करते हे। वे वार वार

जन्मते मरते है। द्वेन्द्रिय लट आदि, तेइन्द्रिय चींटी खटमल आदि, चौन्द्रिय मक्खी, पतंग आदि ये तीन प्रकार विकलत्रय महान कष्टमे जीवन विताते है। मानवो व पशुओंके वर्तनसे इनका बहुधा मरण होता रहता है। पंचेंद्रिय पशु थलचर गाय भैसादि, जलचर मच्छ कच्छवादि, नभचर कबूतर मोर काकादि व सर्पादि पशु कितने कष्टसे जीवन विताते है सो प्रत्यक्ष प्रगट है। मानवोंके अन्याचारोंमे अनेक पशु मारे जाते है। भार वहन, गर्मी, शर्दी, भूख, प्यासके व परस्पर वैर विरोधके घोर कष्ट सहते है।

मानवगतिमे इष्टवियोग, अनिष्ट सयोग, रोग, दारिद्र, अपमानादिके घोर शारीरिक व मानसिक कष्ट सहने पडते हैं, सो सबको प्रत्यक्ष ही है। देवगतिमे मानसिक कष्ट अपार है। छोटे देव बडोकी विभूति देखकर कुढते है। देवियोंकी आयु थोडी होती है, देवोकी बडी आयु होती है, इसलिये देवियोके वियोगका बडा कष्ट होता है। मरण निकट आनेपर अज्ञानी देवोंको भारी दुःख होता है। इस-तरह चारों गतियोंमे दु ख ही दुःख विशेष है। संसारमे सबसे बड़ा दुःख तृष्णाका है। इन्द्रियोंके भोगोंकी लालसा, भोगोंके मिलनेपर भी बढती ही जाती है। इस चाहकी दाहसे सर्व ही अज्ञानी संसारी प्राणी दिनरात जलते रहते है। जब शरीर जराग्रस्त व असमर्थ होजाता है तब भोगोको भोगनेकी शक्ति नही रहती है, किन्तु तृष्णा बढी हुई होती है, इच्छित भोगोंके न मिलनेसे घोर कष्ट होता है। इष्ट पदार्थोंके छूटनेपर महती वेदना होती है। मिथ्यादृष्टी ससारासक्त प्राणियोको संसार-भ्रमणमे दुःख ही दुःख है। जब कभी कोई इच्छा पुण्यके उदयसे तृप्त होजाती है तब कुछ देर सुखसा झलकता है, फिर तृष्णाका दुःख अधिक होजाता है। संसार-भ्रमणसे उदासीन, मोक्षप्रेमी सम्यग्दृष्टी जीवोंको ससारमे क्लेश कम होता है। क्योंकि

वे तृष्णाको जीत लेते है। तृष्णाके तीव्र रोगसे पीडित सर्व ही अज्ञानी प्राणियोंको घोर कष्ट होता है। इसलिये विचारवानोंको अपने आत्मापर करुणाभाव लाना चाहिये। व यह भय करना चाहिये कि हमारा आत्मा ससारके क्लेशोंको न सहन करे। यह आत्मा भव-वनमें न भ्रमे, भवसागरमे न डूबे, जन्म जरा मरणके घोर क्लेश न सहन करे।

श्री पद्मनन्दिमुनि **धम्मरसायण** ग्रन्थमे कहते है—

उप्पण्णसमयपहुदी आमरणंतं सहति दुक्खाइं।
अच्छिणिमीलयमेत्त सोक्खं ण लहति णेरइया॥ ७२॥

भावार्थ—नरक गतिमे नारकी प्राणी उत्पत्तिके समयसे लेकर मरण पर्यंत दुःखोंको सहन करते रहते है। वे बिचारे आखके टिम-कार मात्र भी समय तक सुख नहीं पाते है।

एइंदिएसु पंचसु अणेयजोणीसु वीरियविहूणो।
भुजतो पावफलं चिरकाल हिडए जीवो॥ ७८॥

भावार्थ—तिर्यचगतिमे एकेन्द्रियसे पचेन्द्रिय तककी अनेक योनियोंमे जन्म लेकर शक्तिहीन होते हुए प्राणी पापका फल दुःख भोगते हुए चिरकाल भ्रमण करते रहते है। अनतकाल वनस्पति निगोदमे जाता है।

बहुवेयणाउलाए तिरियगईए भमित्तु चिरकालं।
माणुसहवे वि पावइ पावस्स फलाइ दुक्खाइ॥ ८०॥
धणुबंधविप्पहीणो भिक्खं भमिऊण भुंजए णिच्चं।
पुव्वकयपावकम्मो सुयणो वि ण यच्छए सोक्खं॥ ८५॥

भावार्थ—चिरकालतक तिर्यच गतिमे महान वेदनाओंमे आकुलित हो भ्रमण करके मनुष्यभवमे जन्मकर पापके फलसे यह

प्राणी दुःखोंको पाता है। अनेक मानव पूर्वकृत पापके उदयसे धन-रहित, कुटुम्बरहित होकर सदा भिक्षासे पेट भरते घूमते है, उनका कोई सम्बन्धी भी उनको सुखकी सामग्री नहीं देता है।

छम्मासाउगसेसे विलाइ माला विणस्सए छाए।
कंपंति कप्परुक्खा होइ विरागो य भोयाणं ॥ ९० ॥

भावार्थ—देवगतिमे छः मास आयुके शेष रहने पर माला मुरझा जाती है, शरीरकी कांति मिट जाती है, कल्पवृक्ष कांपने लगते है, भोगोंसे उदासीनता छा जाती है।

एवं अणाइकाले जीओ संसारसायरे घोरे।
परिहिंडए अलहंतो धम्मं सव्वण्हुपण्णत्तं ॥ ९४ ॥

भावार्थ—इसतरह अनादिकालसे यह जीव सर्वज्ञ भगवानके कहे हुए धर्मको न पाकरके भयानक संसार-सागरमे गोते लगाया करता है।

श्री अमितगति आचार्य **बृहत् सामायिकपाठमे** कहते है—

श्वभ्राणामविसह्यमंतरहितं दुर्जल्पमन्योन्यजं।
दाहच्छेदविभेदनादिजनितं दुःखं तिरश्चां परं ॥
नृणां रोगवियोगजन्ममरणं स्वर्गौकसां मानसं।
विश्वं वीक्ष्य सदेति कष्टकलितं कार्यामतिर्मुक्तये ॥ ७९ ॥

भावार्थ—नारकियोंको असहनीय, परम्परकृत, अनन्त दुःख ऐसा होता है जिसका कहना कठिन है। तिर्यंचोंको जलनेका, छिदनेका, भिदनेका आदि महान दुःख होता है। मानवोंको रोग, वियोग, जन्म, मरणका घोर कष्ट होता है। देवोंको मानसीक क्लेश रहता है। इसतरह सारे जगतके प्राणियोंको सदा ही कष्टसे पीड़ित

देखकर बुद्धिमानको उचित है कि इस ससारसे मुक्ति पानेके लिये बुद्धि स्थिर करे।

ससारमे तृष्णाका महान रोग है। बडे २ सम्राट् भी इच्छित भोगोको भोगते है परंतु तृष्णाको मिटानेकी अपेक्षा उसे अधिक अधिक बढाते जाते है। शरीरके छूटनेके समयतक तृष्णा अत्यन्त बढ़ी हुई होती हैं। यह तृष्णा दुर्गतिमे जन्म करा देती हैं।

इसीलिये स्वामी समन्तभद्राचार्यने **स्वयंभूस्तोत्रमे** ठीक कहा है—

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसा स्वार्थो न भोग परिभंगरात्मा।
तृषोऽनुषङ्गान्न च तापशातिरितीदमाख्यद् भगवान् सुपार्श्व. ॥ ३१ ॥

भावार्थ—हे सुपार्श्वनाथ भगवान्! आपने यही उपदेश दिया है कि प्राणियोंका उत्तम हित अपने आत्माका भोग है जो अनन्त काल-तक बना रहता है। इन्द्रियोंका भोग सच्चा हित नही है। क्योंकि वे भोग क्षणभंगुर नाशवंत है, तथा तृष्णाके रोगको बढानेवाले है। इनको कितना भी भोगो, चाहकी दाह शात नहीं होती है।

इसलिये बुद्धिमानको इस दुःखमय ससारसे उदास होकर मोक्षपद पानेकी लालसा या उत्कण्ठा या भावना करनी चाहिये। मोक्षपदमे सर्व सासारिक कष्टोका अभाव है, रागद्वेष मोहादि विका-रोंका अभाव है, सर्व पाप पुण्य कर्मोंका अभाव है, इसीलिये उसको निर्वाण कहते हे। वहा सर्व परकी शून्यता है परन्तु अपने आत्माके द्रव्य गुण पर्यायोकी शून्यता नही है। मोक्षमे यह आत्मा अपने शुद्ध स्वभावमे सदाकाल प्रकाश करता है, अपनी सत्ता बनाए रखता है। संसारदशामे शरीर सहित मोक्षपदमे शरीरोंसे रहित होजाता है। निरन्तर स्वात्मीक आनन्दका पान करता है। जन्म मरणसे रहित होजाता है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** ग्रंथमे कहते है—

नित्यमपि निरुपलेप स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः ।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः ॥ २२३ ॥
कृतकृत्य· परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा ।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ॥ २२४ ॥

भावार्थ—परम पुरुष मोक्षके परम पदमे सदा ही कर्मके लेप-रहित व बाधारहित अपने स्वरूपमे स्थिर आकाशके समान परम निर्मल प्रकाशमान रहते है। वह परमात्मा अपने परम पदमे कृत-कृत्य व सर्व जाननेयोग्य विषयोंके ज्ञाता व परमानन्दमे मगन सदा ही आनन्दका भोग करते रहते है।

श्री समन्तभद्राचार्य **रत्नकरण्डश्रावकाचार**मे कहते है—

शिवमजरमरुजमक्षयमव्याबाधं विशोकभयशङ्कम् ।
काष्ठागतसुखविद्याविभवं विमलं भजन्ति दर्शनशरणा ॥४०॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी महात्मा परम आनन्द व परम ज्ञानकी विभूतिसे पूर्ण शिवपदको पाते है, जहा जरा नही, रोग नहीं, क्षय नही, बाधा नहीं, शोक नही, भय नही, शका नही रहती है।

श्री योगेन्द्राचार्य संसारसे वैरागी व मोक्षपद-उत्सुक प्राणि-योंके लिये आत्माका स्वभाव समझायेगे। क्योंकि आत्माके ज्ञानसे ही आत्मानुभव होता है, यही मोक्षका उपाय है।

मिथ्यादर्शन संसारका कारण है।

कालु अणाइ अणाइ जीउ भवसायरु जि अणंतु ।
मिच्छादंसणमोहियउ ण वि सुह दुक्ख जि पत्तु ॥४॥

अन्वयार्थ—(कालु अणाइ) काल अनादि है (जिउ

अणादि) संसारी जीव अनादि है (भव सायरु जि अणंतु) ससारसागर भी अनादि अनन्त है (मिच्छादंसणमोहियउ) मिथ्यादर्शन कर्मके कारण मोही होता हुआ जीव (सुह ण वि दुक्ख जि पत्तु) सुख नहीं पाता है, दुःख ही पाता है।

भावार्थ—कालका चक्र अनादिसे चला आ रहा है। हर-समय भूत भावी वर्तमान तीनो काल पाए जाते है, कभी ऐसा सम्भव नहीं है कि काल नहीं था। जब काल अनादि है तब कालके भीतर काम करनेवाले संसारी जीव भी अनादि है। जीव कभी नवीन पैदा नहीं हुए। प्रवाहरूपसे चले ही आरहे है। वास्तवमे यह जगत जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल इन छः सत् द्रव्योंका समुदाय है। ये द्रव्य अनादि है तब यह जगत भी अनादि है। जगतमे प्रत्यक्ष प्रगट है कि कोई अवस्था किसी अवस्थाको बिगाडकर लेती है परतु जिसमे अवस्था होती है वह बना रहता है। सुवर्णकी डलीको गलाकर कडा बनाया गया, तब डलीकी अवस्था मिटी, कडेकी अवस्था पैदा हुई, परतु सुवर्ण बना रहा। कभी कोई सुवर्णका लोप नहीं कर सक्ता है। सुवर्ण पुद्गलके परमाणुओका समूह है, परमाणु सब अनादि हैं।

संसारी जीव अनादिसे ससारमे पाप-पुण्यको भोगता हुआ भ्रमण कररहा है। कभी यह जीव शुद्ध था फिर अशुद्ध हुआ ऐसा नहीं है। कार्मण और तैजस शरीरोंका सयोग अनादिसे है, यद्यपि उनमे नए स्कंध मिलते है, पुराने स्कंध छूटते है। इसलिये ससारीजीवोंका संसार-भ्रमणरूप ससार भी अनादि है। तथा यदि इसीतरह यह जीव कर्मबन्ध करता हुआ भ्रमण करता रहा तो यह ससार उस मोही अज्ञानी जीवके लिये अनन्त कालतक रहेगा। मिथ्यादर्शन नामकर्मके उदयमे यह ससारीजीव अपने आत्माके सच्चे स्वरूपको

भूल रहा है, इसलिये कभी सच्चे सुखको नहीं पहचाना, केवल इन्द्रियोंके द्वारा चलता हुआ कभी सुख, कभी दुःख उठाता रहा। इंद्रिय सुख भी आकुलताका कारण है व तृष्णावर्द्धक है, इसलिये दुःखरूप ही है।

मोहनीय कर्मके दो भेद हैं–दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीयका एक भेद मिथ्यात्वकर्म है। चारित्रमोहनीयके भेदोंमें चार अनंतानुबन्धी कषाय हैं। इन पांच प्रकृतियोंके उदय या फलके कारण यह संसारीजीव मोही, मूढ़, बहिरात्मा, अज्ञानी, संसारासक्त, पर्यायरत, उन्मत्त व मिथ्यादृष्टि होरहा है। इनके भीतर मिथ्यात्व भाव अन्धेरा किये हुए है, जिससे सम्यग्दर्शन गुणका प्रकाश रुक रहा है। मिथ्यातभाव दो प्रकारका है–एक अग्रहीत, दूसरा ग्रहीत। अग्रहीत मिथ्यात्व वह है जो प्रमादसे विभाव रूप चला आरहा है। जिसके कारण यह जीव जिस शरीरको पाता है उसमे ही आपापन मान लेता है। शरीरके जन्मको अपना जन्म, शरीरके मरणको अपना मरण, शरीरकी स्थितिको अपनी स्थिति मान रहा है। शरीरसे भिन्न मैं चेतन प्रभु हूं यह खबर इसे बिलकुल नहीं है। कर्मोंके उदयसे जो भावोंमें क्रोध, मान, माया, लोभ या राग द्वेष मोह होते हैं उन भावोंको अपना मानता है। मैं क्रोधी, मैं मायावी, मैं लोभी, मैं रागी, मैं द्वेषी, मैं मोही, इसी तरह पाप पुण्यके उदयसे शरीरकी अच्छी या बुरी अवस्था होती है, उसे अपनी ही अच्छी या बुरी अवस्था मान लेता है। जो धन, कुटुम्ब, मकान, भूषण, वस्त्र आदि परद्रव्य हैं उनको अपना मान लेता है। इसतरह नाशवंत कर्मोदयकी भीतरी व बाहरी अवस्थाओंमें अहंकार व ममकार करता रहता है।

अपने स्वभावमें अहंबुद्धि व अपने गुणोंमें ममता भाव बिल-

कुल नहीं होता है। जैसे कोई मदिरा पीकर बावला होजावे व अपना नाम व अपना घर ही भूल जावे वैसे यह मोही प्राणी अपने सच्चे स्वभावको भूले हुए है। चारों गतियोंमे जहां भी जन्मता है वहां ही अपनेको नारकी, तिर्यंच, मनुष्य या देव मान लेता है। जो पर्याय छूटनेवाली है उसको स्थिर मान लेता है, यह अगृहीत या निसर्ग मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्वके कारण तत्वका श्रद्धान नहीं होता है।

श्री पूज्यपादस्वामीने **सर्वार्थसिद्धि**मे कहा है-

" मिथ्यादर्शन द्विविधं नैसर्गिक परोपदेशपूर्वकं च। तत्र परोपदेशमन्तरेण मिथ्यात्वकर्मोदयवशात आविर्भवति तत्वार्थाश्रद्धानलक्षणं नैसर्गिकं।

भावार्थ—मिथ्यादर्शन दो प्रकार है—एक नैसर्गिक या अगृहीत-दूसरा अधिगमज या परोपदेश पूर्वक। जो परके उपदेशके विना ही मिथ्यात्व कर्मके उदयके वशसे जीव अजीव आदि तत्वोंका अश्रद्धान प्रगट होता है वह **नैसर्गिक** है। यह साधारणतामें सर्व ही एकेन्द्रियसे पचेन्द्रिय पर्यंत जीवोंमे पाया जाता है। जबतक मिथ्यात्व कर्मका उदय नही मिटेगा तबतक यह मिथ्यात्व भाव होता ही रहेगा। दूसरा परोपदेश पूर्वक पांच प्रकार है—एकान्त, विपरीत, संशय, वैनयिक, अज्ञान. मिथ्यादर्शन। ये पांच प्रकार सैनी जीवोंको परके उपदेशसे होता है, तब संस्कार वश असैनीके भी बना रहता है। इनका स्वरूप वहां कहा है—

(१) " तत्र इदमेव इत्थमेवेति धर्मिधर्मयोरभिनिवेश एकान्तः पुरुष एवेद सर्वमिति वा नित्यमेवेति। '

भावार्थ—धर्मि जो द्रव्य व धर्म जो उसके स्वभाव उनको ठीक न समझकर यह हठ करना कि वस्तु यही है व ऐसी ही है। वस्तु अनेक स्वभावरूप अनेकांत होते हुए भी उसे एक धर्मरूप या एकांत

मानना एकांत मिथ्यात्व है। जैसे जगत छः द्रव्यका समुदाय है। ऐसा न मानकर यह जगत एक ब्रह्म स्वरूप ही है, ऐसा मानना या वस्तु द्रव्यकी अपेक्षा नित्य है व पर्यायकी अपेक्षा अनित्य है ऐसा न मानकर सर्वथा नित्य ही मानना या सर्वथा अनित्य ही मानना एकान्त मिथ्यात्व है। "सग्रंथो निर्ग्रन्थाः, केवली कवलाहारी, स्त्री सिद्ध्यतीत्येवमादिः विपर्ययः।"

भावार्थ–जो बात संभव न हो-विपरीत हो उसको ठीक मानना विपरीत मिथ्यात्व है जैसे परिग्रहधारी साधुको निर्ग्रन्थ मानना, केवली अरहंत भगवानको ग्रास लेकर भोजन करना मानना, स्त्रीके शरीरसे सिद्धगति मानना, हिंसासे धर्म मानना इत्यादि विपरीत मिथ्यात्व है। वस्त्रादि बाहरी व क्रोधादि अंतरंग परिग्रह रहित ही निर्ग्रंथ साधु होसक्ता है, केवली अनतबली परमौदारिक सात धातु-रहित शरीर रखते है, मोहकर्मको क्षय कर चुके हे, उनको भूखकी वाधा होना–भोजनकी इच्छा होना व भिक्षार्थ भ्रमण करना व भोजनका खाना सम्भव नहीं है। वे परमात्मपदमे निरन्तर आत्मा-नन्दामृतका स्वाद लेते हैं, इन्द्रियोंके द्वारा स्वाद नही लेते है। उनके मतिज्ञान व श्रुतज्ञान नही हे।

कर्मभूमिकी स्त्रीका शरीर वज्रवृषभनाराच संहनन विना हीन संहननका होता है इसीसे वह न तो भारी पाप कर सक्ती है न मोक्षके लायक ऊँचा ध्यान ही कर सक्ती हे। इसलिये वह मरकर १६ स्वर्गके ऊपर ऊर्द्ध्व लोकसे व छठे नर्कसे नीचे अधोलोकमें नहीं जाती है। हिंसा या परपीड़ासे पापवन्ध होगा कभी पुण्यवन्ध नहीं होसक्ता। उल्टी प्रतीतिको ही विपरीत मिथ्यादर्शन कहते है।

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि किं मोक्षमार्गः स्याद्वा न वेत्यन्य-तरपक्षापेक्षा परिग्रहः संशयः" सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र रत्नत्रय धर्म

मोक्षमार्ग है कि नहीं है ऐसा विकल्प करके किसी एक पक्षको नही ग्रहण करना **संशय मिथ्यादर्शन** है।

"सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकम्" सर्व ही देवताओंको व सर्व ही दर्शनोंको या आगमोंको (विना स्वरूप विचार लिये) एक समान श्रद्धान करना वैनयिक मिथ्यादर्शन है।

"हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्व" हित अहितकी परीक्षा नही करना, देखादेखी धर्मको मान लेना, अज्ञान मिथ्यादर्शन है। सम्यग्दर्शन वास्तवमे अपने शुद्धात्माके स्वरूपकी प्रतीति है, उसका न होना ही मिथ्यादर्शन है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा मोक्ष इन सात तत्वोंमे श्रद्धान न होना तथा वीतराग सर्वज्ञ देवमे, सत्यार्थ आगममे व सत्य गुरुमे श्रद्धानका न होना व्यवहार मिथ्या-दर्शन है। यह सब गृहीत या अधिगमज या परोपदेश पूर्वक मिथ्यादर्शन है।

अपनेको औरका और शरीर रूप मानना अगृहीत या नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है। मिथ्यादर्शनके कारण इस जीवको सच्चे आत्मीक सुखकी तथा सच्चे शुद्ध आत्माके स्वभावकी प्रतीति नही होती है। इसकी बुद्धि मोहसे अच्छी होती है। यह विषयभोगके सुखको ही सुख समझकर प्रतिदिन उसके उद्योगमे लगा रहता है। परपीडा पहुचाकर भी स्वार्थ साधन करता है, पापोंको बाधता है, भवभवमे दुःख उठाता फिरता है। मिथ्यादर्शनके समान जीवका कोई वैरी नही है। मिथ्यादर्शनसे बढकर कोई पाप नही है। देहको अपना मानना ही देह धारण करनेका बीज है।

समाधिशतकमे श्री पूज्यपादस्वामीने कहा है—

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत् क्षेमङ्करमात्मन ।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ॥ ५५ ॥

भावार्थ—इन्द्रियोंके भोगोंके भीतर आत्माका हित नही है तौ भी मिथ्यादृष्टी अज्ञानकी भावनासे उन्हीमें रमण करता रहता है।

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥ ५६ ॥

भावार्थ—अनादिकालसे मूढ़ आत्माए अपने स्वरूपसे सोई हुई है, खोटी योनियोंमे भ्रमण करती हुई स्त्री पुत्रादि परपदार्थोंको व अपने शरीर व रागादि विभावोंको अपना मानकर इसी विभावमे जाग रही है।

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना।
बीजं विदेह निष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥ ७४ ॥

भावार्थ—इस शरीरमे आपा मानना ही पुनः पुन देह ग्रहणका बीज है। जबकि अपने आत्मामे ही आपा मिलना देहसे छूट जानेका बीज है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य **सारसमुच्चय**मे कहते है—

मिथ्यात्वं परमं बीजं संसारस्य दुरात्मन।
तस्मात्तदेव मोक्तव्यं मोक्षसौख्यं जिघृक्षुणा ॥ ५२ ॥

भावार्थ—इस दुष्ट संसारका परम बीज एक मिथ्यादर्शन है इसलिये मोक्षके सुखकी प्राप्ति चाहनेवालोंको मिथ्यादर्शनका त्याग करना उचित है।

सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाणसंगम.।
मिथ्यादृशोऽस्य जीवस्य संसारे भ्रमणं सदा ॥ ४१ ॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी जीवके अवश्य निर्वाणका लाभ होगा, किन्तु मिथ्यादृष्टी जीवका सदा ही ससारमे भ्रमण रहेगा।

अनादिकालीन संसारमे यह संसारी जीव अनादिसे ही मिथ्यादर्शनसे अन्धा होकर भटक रहा है, इसलिये इस मिथ्यात्वका त्याग जरूरी है।

मोक्षसुखका कारण आत्मध्यान है।

जइ बीहउ चउगइगमणु तउ परभाव चएवि।
अप्पा झायहि णिम्मलउ जिम सिवसुक्ख लहेवि ॥५॥

अन्वयार्थ—(जइ) जो (चउगइगमणु बीहउ) चारों गति-योंके भ्रमणसे भयभीत है (तउ) तो (परभाव चएवि) परभावोंको छोड दे (णिम्मलउ अप्पा झायहि) निर्मल आत्माका ध्यान कर (जिम) जिससे (सिवसुक्ख लेहेहि) मोक्षके सुखको तू पासके।

भावार्थ—जैसा पहले दिखाया जाचुका है चारों ही गति-योंमे शारीरिक व मानसिक दुःख ह। सुखकारी व स्वाभाविक गति एक मोक्ष गति है, जहां आत्मा निश्चल रहकर परमानन्दका भोग निरतर करता रहता है, जहा आत्मा बिलकुल शुद्ध निराला शोभता रहता है। मन सहित प्राणीको अपना हित व अहित ही विचारना चाहिये। यदि आत्माके ऊपर दयाभाव है तो इसे दुःखोंके बीच नहीं डालना चाहिये। इसे भव-भ्रमणसे रक्षित करना चाहिये। और इसे जितना शीघ्र होसके, मोक्षके निराकुल भावमें पहुच जाना चाहिये। तब इसका उपाय श्री गुरुने बताया है कि अपने ही शुद्ध आत्माका ध्यान करो।

भेदविज्ञानकी शक्तिसे अपने आत्माके साथ जिन जिनका सयोग है उन उनको आत्मासे नित्य विचार करके उनका मोह छोड देना चाहिये। मोक्ष अपने ही आत्माका शुद्ध स्वभाव है तब उसका उपाय भी केवल एक अपने ही शुद्ध आत्माका ध्यान है। जैसा ध्यावे वैसा होजावे। यदि हम एक मानवकी आत्माका भेदविज्ञान करे तो यह पता चलेगा कि यह तीन प्रकारके शरीरोके साथ है। वे

प्रतापसे ध्यान करनेवाला आप ही अपनेको परमात्मा रूप देखता है । जैसे दूधपानी मिले हुए हो तो दूध पानीसे अलग दीखता है व गर्म पानीमे जल व अग्निका स्वभाव अलग दीखता है । व्यंजनमे लवण व तरकारीका स्वाद अलग दीखता है । लाल पानीमे पानी व लाल रगका स्वभाव अलग दीखता है । तिलोंमे भूसी व तेल अलग दीखता है । धान्यसे तुप और चावल अलग दीखता है । दालमे छिलका व दालका दाना अलग दीखता है । वैसे ही ज्ञानीको अपना आत्मा रागादि भावकर्मसे, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मसे व शरीरादि नोकर्मसे भिन्न दीखता है । जैसे ज्ञानीको अपना आत्मा सर्व पर भावोसे जुदा दीखता है वैसे ही अन्य संसारी प्रत्येक आत्मा सर्व परभावोंसे भिन्न दीखता है ।

सर्व ही सिद्ध व ससारी आत्माएं एक-समान परम निर्मल, वीतराग, ज्ञानानन्दमय दिखती है । इस दृष्टिको सम्यक् व यथार्थ व निर्मल व निश्चय दृष्टि कहते है । इस दृष्टिसे देखनेका अभ्यास करनेवालेके भावोंमे समभावका साम्राज्य होजाता है । राग द्वेप, मोहका विकार मिट जाता है ।

इसी समभावसे एकाग्र होना ही ध्यान है । यही ध्यानकी आग है जिससे कर्मके वन्धन कट जाते है और यह आत्मा शीघ्र ही मुक्त होजाता है, तब परम सुखका भोगी बन जाता है ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयपाहुडमे कहते है ।

जीवस्स णत्थि वण्णो णविगंधो णवि रसो णवि य फासो ।
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संहणण ॥ ५५ ॥
जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णो कम्मं चाविसे णत्थि ॥ ५६ ॥

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव कड्डया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा ण वयअणुभायठाणाणि ॥ ५७ ॥

जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठणा ण बन्धठाणा वा।
णे वयउदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥ ५८ ॥

णो ठिदि बन्धट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेश ठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥ ५९ ॥

णे वय जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य आत्म जीवस्स।
जेणदु एदे सव्वे पुग्गलद्व्वस्स परिणामा ॥ ६० ॥

भावार्थ—निश्चयनयमे इस जीवके न कोई वर्ण है, न कोई गंध है, न रस है, न स्पर्श है, न कोई दिखनेवाला रूप है, न कोई शरीर है, न छः संस्थानोंमेंसे कोई संस्थान है, न छः संहननोंमेसे कोई संहनन है, न जीवके राग है, न द्वेष है, न मोह है, न सत्तावन (५ मिथ्यात्व + १२ अविरति + २५ कषाय + १५ योग) आस्रव है, न आठ कर्म है, न आहारक, तैजस, भाषा, मनोवर्गणा आदि नो कर्म है, न जीवके कोई अविभाग प्रतिच्छेद शक्तिका समूह रूप वर्ण है, न वर्गसमूहरूप वर्गणा है, न वर्गणासमूहरूप स्पर्द्धक है, न शुभाशुभ विकल्परूप अध्यात्मस्थान है, न सुख दुःख फलरूप अनुभागस्थान है, न जीवके कोई आत्मप्रदेश हलन चलनरूप व योगशक्तिके अशुद्ध परिणमनरूप योगस्थान है, न प्रकृति आदि चार बन्धके स्थान है, न कर्मोंके उदयके स्थान है, न चौदह गति आदि मार्गणाओंके स्थान है, न कर्मोंकी स्थितिबन्धके स्थान है, न अशुभ भावरूप संक्लेश स्थान है, न शुभ भावरूप विशुद्धिके स्थान हैं, न संयमकी वृद्धिरूप संयमके स्थान है, न एकेन्द्रियादि चौदह जीव समास है, न मिथ्या-

दर्शनादि चौदह गुणस्थान हैं, क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्यके संयोग व निमित्तसे होनेवाले परिणाम है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य **समयसारकलशमे** कहते है—

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदास ।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातो.
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ॥१५–३॥

भावार्थ—भेद विज्ञानके बलसे ज्ञानीको गर्म पानीमे अग्निकी उष्णता व पानीकी शीतता भिन्न२ दीखती है। भेदविज्ञानसे ही बनी हुई तरकारीमे लवणका व तरकारीका स्वाद अलग २ स्वादमे आता है। भेदविज्ञानसे ही दीखता है कि यह आत्मा आत्मीक रससे भरा हुआ नित्य चैतन्य धातुकी मूर्ति वीतराग है तथा यह क्रोधादि विकारोंका कर्ता नहीं है। क्रोधादि अलग है, आत्मा अलग है।

समयसारकलशमे और भी कहा है—

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मन ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥ ४६–१० ॥

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मक—
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिश ध्यायेच्च तं चेतति ।
तस्मिन्नेव निरन्तर विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥४७–१०॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रमई आत्माका तत्व है, वही एक मोक्षमार्ग है। मोक्षके अर्थीको उचित है कि इसी एकका सेवन करे। दर्शनज्ञानचारित्रमय आत्मा ही निश्चयसे एक मोक्षका मार्ग है। जो कोई इस अपने आत्मामे अपनी स्थिति करता है, रात दिन

उसीको ध्याता है, उसीका अनुभव करता है, उसीमे ही निरन्तर विहार करता है, अपने आत्माके सिवाय अन्य आत्माओंको, सर्व पुद्गलोंको, धर्माधर्माकाशकाल चार अमूर्तीक द्रव्योंको व सर्व ही परभावोंको स्पर्श तक नही करता है वह ही अवश्य नित्य उदय रूप समयसार या परमात्माका अनुभव करता है। वास्तवमे यह आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है, योगीको यही निरन्तर करना चाहिये।

आत्मा तीन प्रकार है।

तिपयारो अप्पा मुणहि परु अंतरु बहिरप्पु।
पर झायहि अंतरसहिउ बाहिरु चयहि णिभंतु ॥६॥

अन्वयार्थ—(अप्पा तिपयारो मुणहि) आत्माको तीन प्रकार जानो, (परु) परमात्मा (अंतरु) अन्तरात्मा (बहिरप्पु) बहिरात्मा (णिभंतु) भ्रांति या शङ्कारहित होकर (बाहिरु चयहि) बहिरात्मापना छोड दे (अंतरसहिउ) अन्तरात्मा होकर (पर झायहि) परमात्माका ध्यान कर।

भावार्थ—द्रव्यदृष्टि या शुद्ध निश्चयनयसे सर्व ही आत्माए एकसमान शुद्धबुद्ध परमात्मा ज्ञानानन्दमय है, कोई भेद नही है। द्रव्यका स्वभाव सत् है, सदा रहनेवाला है व सत् उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है। हरएक द्रव्य अपने सर्व सामान्य तथा विशेष गुणोको अपने भीतर सदा बनाए रहता है, उनमे एक भी गुण कम व अधिक नही होता इसलिये द्रव्य ध्रौव्य होता है। हरएक गुण परिणमनशील है कूटस्थ नित्य नहीं है। यदि कूटस्थ नित्य हो तो कार्य न कर सके। गुणोंके परिणमनसे जो समय समय हरएक गुणकी अवस्था होती है वह उस गुणकी पर्याय है।

एक गुणमे समय समय होनेवाली ऐसी अनन्त पर्यायें होती है । पर्यायें सब नाशवंत है । जब एक पर्याय होती है तब पहली पर्यायको नाश करके होती है । पर्यायोंकी अपेक्षा हरसमय द्रव्य उत्पाद् व्यय स्वरूप है अर्थात् पुरानी पर्यायको विगाड कर नवीन पर्यायको उत्पन्न करता हुआ द्रव्य अपने सर्व गुणोंको लिये हुए बना रहता है । इसलिये द्रव्यका लक्षण 'गुणपर्ययवत् द्रव्यं' गुण पर्यायवान द्रव्य होता है ऐसा किया है ।

हरएक द्रव्यमे जितनी पर्यायें सम्भव होसकती है उन सबकी शक्ति रहती है, प्रगटता एक समयमे एककी होती है । जैसे मिट्टीकी डलीमे जितने प्रकारके वर्तन, खिलौने. मकान आदि वननेकी शक्ति है, वे सब पर्यायें शक्तिसे हैं, प्रगटता एक समयमे एक पर्याय ही होगी । जैसे मिट्टीसे प्याला वनाया, प्याला तोडकर मटकेना वनाया, मटकेना तोडकर एक पुरुष बनाया, पुरुष तोडकर स्त्री बनाई आदि । इन सब पर्यायोंमे मिट्टी वही है व मिट्टीके सब गुण भी वे ही हैं । स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णमय मिट्टी सदा मिलेगी ।

द्रव्य जगतमे छः है-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश, और कालाणु इन चारों द्रव्योंमे एकसमान सदृश स्वभाव पर्यायें ही होती रहती हैं । उनके परके निमित्तसे विभाव पर्यायें नहीं होसक्ती हैं । वे सदा उदासीन पडे रहते ह ।

सिद्धात्माओंमे भी स्वभावसदृश पर्यायें होती है क्योंकि उनके ऊपर किसी पर द्रव्यका प्रभाव नही पड सक्ता है । वे पूर्ण मुक्त हैं । परतु संसारी आत्माओंमे कर्मोंका सयोग व उदय होनेके कारण विभाव पर्यायें व अशुद्ध पर्यायें होती है । परमाणु जो जघन्य अश स्निग्ध व रूक्ष गुणका रखता है, किसीसे बन्धता नहीं है, उस परमाणुमे भी स्वभाव पर्यायें होती है, जब यही स्निग्ध व रूक्ष

गुणोंके बढ़नेसे दूसरे परमाणुके साथ बन्धयोग्य हो जाता है तब उसमे विभाव पर्याये होती हैं।

पर्याये दो प्रकारकी है—अर्थ पर्याय व व्यंजन पर्याय। प्रदेश-गुण या आकारके पलटनेको व्यंजन पर्याय व अन्य सर्व गुणोंके परिणमनको अर्थ पर्याय कहते है। शुद्ध द्रव्योंमे व्यंजन व अर्थ पर्याय समानरूपसे शुद्ध ही होती है। अशुद्धसे अशुद्ध अर्थ पर्याय व आकारकी पलटन रूप अशुद्ध या विभाव व्यजन पर्याय होती है। संसारी आत्माए अशुद्ध है तौ भी हरएक आत्मामे अपने सर्व ही गुणोंके शुद्ध या अशुद्ध परिणमनकी शक्तिये है। जबतक वे अशुद्ध है तबतक अशुद्ध पर्याये प्रगट होती है। शुद्ध होनेपर शुद्ध पर्याये ही प्रगट होती है। शुद्ध आत्माओंमे भी शुद्ध व अशुद्ध पर्यायोंकि होनेकी शक्ति है परंतु शुद्ध पर्याये ही प्रगट होती है क्योंकि अशुद्ध पर्यायोंके होनेके लिये पुद्गलका कोई निमित्त नहीं है। एक परमाणुमे सर्व संभवित पर्यायोंके होनेकी शक्ति है वैसे एक आत्मामे निगोदसे लेकर सिद्ध पर्याय तक सर्व पर्यायोमे होनेकी शक्ति है, यह वस्तुस्वभाव है।

सिद्ध भगवानोंमें बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा तीनोंकी पर्यायोंके होनेकी शक्ति है। उनमेंसे परमात्मापनेकी शक्ति व्यक्त या प्रगट है। शेष दो शक्तियां अप्रगट हैं। इसी तरह संसारी आत्माओंमे जो बहिरात्मा है उनसे बहिरात्माकी पर्याये तो प्रगट है, परन्तु उसी समय अन्तरात्मा व परमात्माकी पर्याये शक्तिरूपसे अप्रगट है। यद्यपि तीनोंकी शक्तिया एक ही साथ है।

अन्तरात्मासे अन्तरात्माकी पर्याये जो प्रगट हैं उसी समय बहिरात्मा व परमात्माकी पर्याये शक्तिरूपसे अप्रगट है। वास्तवमे द्रव्यको शक्तिकी अपेक्षा देखा जावे तो हरएक आत्मामे बहिरात्मा,

अन्तरात्मा व परमात्मा तीनों ही शक्तियां है। उनमेसे किसी एककी प्रगटता रहेगी तब दोकी अप्रगटता रहेगी। जैसे पानीमे गर्म होनेकी, लाल हरे पीले व निर्मल होनेकी व ठंढा रहनेकी आदि शक्तियां है। जब परका निमित न होगा तब वह पानी निर्मल ठढा ही प्रगट होगा। उसी पानीको अग्निका निमित्त मिले तब गर्म होजायगा तब गर्मपनेकी दशा प्रगट होगी, शीतपनेकी अप्रगट रहेगी।

मलका निमित्त मिलने पर मैला, लालरगका निमित्त मिलनेपर लाल, हरे रंगका निमित्त मिलनेपर हरा होजायगा तब निर्मलपना शक्तिरूपसे रहेगा।

किसी पानीको परका निमित्त न मिले तो वह सदा ही निर्मल व ठंढा ही झलकेगा। परंतु गर्म व मलीन व रगीन होनेकी शक्तियोका उस पानीमेसे अभाव नहीं होजायगा। सिद्ध परमात्माओमे कर्मोदयका निमित्त न होनेपर वे कभी भी अन्तरात्मा व बहिरात्मा न होंगे. परतु इनकी शक्तियोका उनमे अभाव नहीं होगा। अभव्य जीव कभी भी अन्तरात्मा व परमात्मा न होंगे—बहिरात्मा ही बने रहेंगे तौभी उनमे अन्तरात्मा व परमात्माकी शक्तियोका अभाव नही होगा। इसलिये श्रीपूज्यपादस्वामीने **समाधिशतक**मे कहा है—

> बहिरन्त परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
> उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत्॥ ४॥

भावार्थ—सर्व ही प्राणियोंमे बहिरात्मा, अन्तरात्मा व परमात्मा तीन प्रकारपना है, उनमेसे बहिरात्माएना छोडे। अन्तरात्माके उपायसे परमात्मापनेकी सिद्धि करे, यही योगेन्द्राचार्य **परमात्मप्रकाश**मे कहते है—

> अप्पा तिविहु मुणेवि वहु मूढउ मेल्लहि भाउ।
> मुणि सण्णाणे णाणमउ जो परमप्प सहाउ॥ १२॥

भावार्थ—आत्माको तीन प्रकारका जानकर बहिरात्मस्वरूप भावको शीघ्र ही छोडे और जो परमात्माका स्वभाव है उसे स्वसंवेदन ज्ञानसे अन्तरात्मा होता हुआ जान। वह स्वभाव केवलज्ञानकर परिपूर्ण है।

मिथ्यादर्शन आदि चौदह गुणस्थान होते है, इनकी शक्ति सर्व ही आत्माओंमे है। प्रगटता एक समयमे एक गुणस्थानकी संसारी आत्माओंमे रहेगी। यद्यपि ये सर्व चौदह गुणस्थान ससारी आत्माओंमे होते है, सिद्धोंमे कोई गुणस्थान नही है तौभी ससारी जीवोका बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा तीन अवस्थाओंमे विभाग होसक्ता है। जो अपने आत्माको यथार्थ न जाने न श्रद्धान करे न अनुभवे वह बहिरात्मा है। मिथ्यात्व, सासादन व मिश्र गुणस्थानवाले सब बहिरात्मा है। जो अपने आत्माको सच्चा जैसेका तैसा श्रद्धान करे, जाने व अनुभव करे वह अन्तरात्मा है। जहातक केवलज्ञान नही वहां तक चौथे अविरत सम्यक्तसे लेकर ५ देश विरत ६ प्रमत्तविरत, ७ अप्रमत्तविरत, ८ अपूर्वकरण, ९ अनिवृत्तिकरण, १० सूक्ष्मलोभ, ११ उपशांतमोह, १२ क्षीणमोह पर्यत नौ गुणस्थानवाले सब आत्माए अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टी है। सयोग केवली जिन तेरहवें व अयोगकेवली जिन चौदहवे गुणस्थानवाले अरहत परमात्मा हैं।

इन दोनों गुणस्थानवालोको ससारी इसलिये कहा है कि उनके आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय चार अघातीय कर्मोंका उदय है—क्षय नही हुआ है। यथार्थमे सिद्ध ही शरीर रहित परमात्मा है। अरहंत शरीर सहित परमात्मा है इतना ही अन्तर है। प्रयोजन कहनेका यह है कि बहिरात्मापना त्यागने योग्य है। क्योंकि इस दशामे अपने आत्माके स्वरूपका श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र नहीं होता है। उपयोग ससारासक्त मलीन होता है। तथा आत्मज्ञानी होकर अन्तरात्मा

दशामे परमात्माका ध्यान करके अर्थात् अपने ही आत्माको परमात्मा रूप अनुभव करके कर्मोंका क्षय करके परमात्मा होजाना योग्य है। धर्मके साधनमें प्रमाद न करना चाहिये। सार समुच्चयमे **कुलभद्राचार्य** कहते हैं—

धर्मामृतं सदा पेयं दुःखातङ्कविनाशनम् ।
यस्मिन् पीते परं सौख्यं जीवाना जायते सदा ॥ ३२ ॥

भावार्थ—दुःख रूपी रोगके विनाशक धर्म रूपी अमृतको सदा पीना चाहिये, जिसके पीनेसे जीवोंको सदा ही परमानन्द प्राप्त होगा।

बहिरात्माका स्वरूप ।

मिच्छादंसणमोहियउ परु अप्पा ण मुणेइ ।
सो बहिरप्पा जिणभणिउ पुण संसारु भमेइ ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ—(**मिच्छादंसणमोहियउ**) मिथ्यादर्शनसे मोही जीव (**परु अप्पा ण मुणेइ**) परमात्माको नहीं जानता है (**सो बहिरप्पा**) यही बहिरात्मा है (**पुण संसारु भमेइ**) वह वारवार संसारमे भ्रमण करता है (**जिणभणिउ**) ऐसा श्रीजिनेन्द्रने कहा है।

भावार्थ—जैसे मदिरा पीकर कोई उन्मत्त होजावे तो वह बेसुध होकर अपनेको भी भूल जाता है, अपना घर भी भूल जाता है, वैसे यह मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे मोही होकर अपने आत्माके स्वरूपको भूले हुए हैं। आपको शरीर रूप ही मान लेता है व कर्मोंके उदयसे जो जो अवस्थाए होती है उनको अपना स्वभाव मान लेता है।

आत्माका यथार्थ स्वभाव सिद्ध परमात्माके समान परम शुद्ध,

निर्विकार, निरञ्जन, कृतकृत्य, इच्छारहित, शरीररहित, वचनरहित, मनके संकल्प विकल्परहित, अमूर्तीक, अविनाशी है। इस बातको जो नहीं समझता है और जो कुछ भी आत्माका निज स्वभाव नहीं है उसको अपना स्वभाव मान लेता है, वह आत्मासे बाहरकी वस्तुओंको आत्माकी मानता है। इसलिये उसको बहिरात्मा कहते है। अपने आत्माकी सत्ता सर्व आत्माओंसे जुदी है, सर्व पुद्गलोंसे जुदी है, धर्म, अधर्म, आकाश, कालसे जुदी है, इस बातको बहिरात्मा नहीं समझता। वह इंद्रिय सुखको ही सच्चा सुख मानता है। उसके जीवनका ध्येय विषयभोग व मानपुष्टि रहता हे। वह धर्म भी इसी हेतुसे पालन करता है। यदि कुछ शुभ काम करता है तो मै दानका, पूजाका, परोपकारका, श्रावकके व्रतोंका, मुनिके व्रतोंका कर्ता हूं। यदि कुछ अशुभ काम करता है तो मैं हिंसा कर्ता, असत्य बोलनेकी चतुराईका कर्ता, ठगीकर्ता, व्यभिचारकर्ता व हानिकर्ता प्रवीण पुरुष हूं, इस तरहके अहङ्कारसे मूर्छित रहता है। आत्माका स्वभाव तो न शुभ काम करनेका है, न अशुभ काम करनेका है। आत्मा स्वभावसे परका कर्ता नहीं है। यह बहिरात्मा अपनेको परका कर्ता मान लेता है।

इसी तरह पुण्यके उदयसे सुख मिलने पर में सुखका व पापके उदयसे दु ख होनेपर मैं दुःखका भोगनेवाला हूं। मैने संपदा भोगी, राज्य भोगा, पंचेन्द्रियके भोग भोगे, इस तरह परका भोक्ता मान बैठता हूं। आत्मा स्वभावसे अपने ज्ञानानन्दका भोक्ता है, परका भोक्ता नहीं है, इस बातको बहिरात्मा नहीं समझता है।

मन, वचन, काय, पुद्गलकृत विकार व कर्मोंके उदयसे उनकी क्रियाएं होती हैं। यह बहिरात्मा इन तीनोंको व इनकी क्रियाओंको अपनी क्रिया मान लेता है। अनेक शास्त्रोंको पढ़कर मैं पंडित, इस

अभिमानमे चूर्ण होकर परका तिरस्कार करके प्रसन्न होनेवाला वहि-रात्मा होता है । वह यह घमंड करता है कि मै अमुक वंशका हू, मै ऊचा हू, मै वड़ा रूपवान हू, मै वड़ा वलवान हूं, मै वडा धन-वान हू, मै वडा विद्वान हूं, मै वडा तपस्वी हू, मै वडा अधिकार रखता हू, मै चाहे जिसका विगाड कर सक्ता हू, मेरी कृपासे सैकडो आदमी पलते हे, इस अहकारमे वहिरात्मा चूर रहता हे ।

वहिरात्माकी दृष्टि अन्धी होती है, यह जिनेन्द्रकी मूर्तिमे स्वानुभवरूप जिनेन्द्रकी आत्माको नहीं पहचानती है । छत्रचमरादि विभूति सहित शरीरकी रचनाको ही अरहंत मान लेता है । गुरुकी पूजा भक्ति होती है, गुरु वडे चतुर वक्ता है, गुरुका शरीर प्रभाव-शाली है, गुरु वडे विद्वान है, अनेक शास्त्रोके ज्ञाता है, इस गुरु-महिमाकी तरफ ध्यान देता है । गुरु आत्मज्ञानी है या नहीं, इस भीतरी तत्वपर वहिरात्मा ध्यान नहीं देता है ।

शास्त्रमे रचना अच्छी है, कथन मनोहर है, न्यायकी युक्तिसे अकाट्य हे, अनेक रसोंसे पूर्ण है, ऐसा समझता है, वह शास्त्रके कथनमे अध्यात्मरसको नही खोजता है न उसका पान करता हे । वहिरात्माका जीवन विपय तथा कषायको पोखनेमे व्यतीत होता है । वह मरकरके भी विपयसुखकी सामग्रीको ही चाहता है । इसी भावनाको लिये हुए भारी तपस्या साधता है ।

मै शुद्ध होकर सदा आत्मीक सुख भोग सकूँ, इस भावनासे शून्य होता है । वहिरात्माको मिथ्यात्व कर्मके उदयवश सच्चा तत्व नहीं दिखता है। वह भिन्न२ दर्शनोके शास्त्रोको समझकर यथार्थ जिन भाषित तत्वोंपर श्रद्धा नही लाता है। लोकमे छः द्रव्योंकी सत्ता होते हुए भी केवल एक ब्रह्ममय जगत है। एक परमात्मा ईश्वरके सिवाय कुछ नहीं है, यह सब उसीकी रचना है, उसीका रूपान्तर है, उसीकी

माया है व ईश्वर ही जगतका कर्ता है व जीवोंको सुख दुःखका फल देता है, ऐसा माननेवाला है।

द्रव्यका स्वभाव ध्रुव होकर परिणमनशील है। यदि ऐसा न हो तो कोई जगतमे काम ही न हो ऐसा न मानकर या तो वस्तुको सर्वथा नित्य या अपरिणमनशील मानता है या सर्वथा अनित्य या परिणमनशील मान लेता है। कभी वहिरात्मा हिंसाके कार्यौंमे धर्म मानकर पशुबलि करके व रात्रिभोजन करके व नदियोंमें स्नान करके धर्म मान लेता है। वीतरागताकी पूजा न करके शृंगार-सहित देवताओंकी व शस्त्रादि सहित देवताओंकी व संसारासक्त देवताओंकी पूजा करनेसे पुण्यबन्ध मान लेता है व मोक्ष होना मान लेता है। किन्ही बहिरात्माओंको आत्माकी पृथक् सत्तापर ही विश्वास नहीं होता है। वह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुसे ही आत्माकी उत्पत्ति मान लेता है।

कोई बहिरात्मा आत्माको सदा ही रागी, द्वेषी या अल्पज्ञ रहना ही मान लेता है। वह कभी वीतराग सर्वज्ञ हो सकेगा ऐसा नहीं मानता है। यह बहिरात्मा मूढ होता हुआ मिथ्याश्रद्धान, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रसे मिथ्यामार्गी होता हुआ संसारमे अनादिकालमे भटकता आरहा है व भटकता रहेगा। जिस मानवको सागर पार करनेवाली नौका न मिले वह सागरमे ही गोते खाते २ डूबनेवाला है। बहिरात्माके समान कोई अज्ञानी व पापी नहीं है। जिसको सीधा मार्ग न मिले, उल्टे रास्तेपर चले वह सच्चे ध्येयपर किसतरह पहुंच सक्ता है ?

श्री नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती गोम्मटसार जीवकांडमे कहते है—

मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि।
ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥ १७ ॥

मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि ।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥ १८ ॥

भावार्थ—मिथ्यात्व कर्मके फलको भोगनेवाला जीव विपरीत श्रद्धानी होता है। उसे उसी तरह धर्म नहीं रुचता है जिस तरह ज्वरसे पीडित मानवको मिष्ट रस नहीं सुहाता है। ऐसा मिथ्या-दृष्टी जीव जिनेन्द्र कथित तत्वोंकी श्रद्धा नहीं लाता है। अयथार्थ तत्वोंकी श्रद्धा परके उपदेशसे या विना उपदेशके करता रहता है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य दंसणपाहुडमें कहते है—

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं ।
सिज्झंति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥ ३ ॥

सम्मत्तरयणभट्टा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं ।
आराहणाविरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥ ४ ॥

सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठ वि उग्गं तवं चरंता णं ।
ण लहंति बोहिलाहं अवि वाससहस्सकोडीहिं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिनका श्रद्धान भ्रष्ट है वे ही भ्रष्ट है क्योंकि दर्शन-भ्रष्ट बहिरात्माको कभी निर्वाणका लाभ नहीं होगा। यदि कोई चारित्रभ्रष्ट है परन्तु बहिरात्मा नहीं है तो वे सिद्ध होसकेगे। परन्तु जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वे कभी मोक्ष नहीं पासकेगे। जिनको सम्य-ग्दर्शनरूपी रत्नकी प्राप्ति नहीं है, वे नानाप्रकारके शास्त्रोको जानते है, तौभी रत्नत्रयकी आराधनाके विना वारवार संसारमे भ्रमण ही करेगे। जो कोई सम्यग्दर्शनसे शून्य बहिरातमा है वे करोडों वर्षतक भयानक कठिन तपको आचरण करते हुए भी रत्नत्रयके लाभको या आत्मानुभवको नहीं पासकते है।

श्री नागसेन मुनि तत्वानुशासनमे कहते है—

शश्वदनात्मीयेषु स्वतनुप्रमुखेसु कर्मजनितेषु ।
आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा देहः ॥ १४ ॥
ये कर्मकृता भावा परमार्थनयेन चात्मनो भिन्ना ।
तत्रात्माभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा नृपतिः ॥ १५ ॥
तदर्थानिन्द्रियैर्गृह्वन् मुह्यति द्वेष्टि रज्यते ।
ततो वंधो भ्रमत्येवं मोहव्यूहगतः पुमान् ॥ १९ ॥

भावार्थ—बहिरात्मा मिथ्यादृष्टी जीव ममकार व अहकारके दोपोंसे लिप्त रहता है। शरीर, धन, परिवार, देश-ग्रामादि पदार्थ जो सदा ही अपने आत्मासे जुदे है व जिनका संयोग कर्मके उदयसे हुआ है उनको अपना मानना ममकार है। जैसे यह शरीर मेरा है। जो कर्मके उदयसे होनेवाले रागादि भाव निश्चयनयसे आत्मासे भिन्न है उन रूप ही अपनेको रागी, द्वेषी आदि मानना अहंकार है। जैसे मैं राजा हू, यह प्राणी इन्द्रियोंसे पदार्थोंको जानकर उनमे मोह करता है, राग करता है, द्वेष करता है, तब कर्मोंको बांध लेता है, इसतरह यह बहिरात्मा मोहकी सेनामे प्राप्त हो, संसारमे भ्रमण करता रहता है।

अन्तरात्माका स्वरूप।

जो परियाणइ अप्प परु जो परभाव चएइ ।
सो पंडिउ अप्पा मुणहिं सो संसार मुएइ ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ—(जो अप्प परु परियाणइ) जो कोई आत्माको और परको अर्थात आपसे भिन्न पदार्थोंको भलेप्रकार पहचानता है

(जो परभाव चएइ) तथा जो अपने आत्माके स्वभावको छोड़कर अन्य सब भावोंका त्याग कर देता है (सो पंडिउ) वही पंडित भेदविज्ञानी अन्तरात्मा है वह (अप्पा मुणहि) अपने आपका अनुभव करता है (सो संसार मुयइ) वही संसारसे छूट जाता है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टीको अन्तरात्मा कहते हैं। मिथ्यादृष्टी अज्ञानी पहले गुणस्थानसे चढ़कर जब चौथेमें या एकदम पांचवेंमें या सातवें गुणस्थानमें आता है तब सम्यग्दृष्टी अन्तरात्मा होजाता है। मिथ्यात्वकी भूमिको लांघकर सम्यक्तकी भूमिपर आनेका उपाय यह है कि सैनी पचेन्द्रिय जीव पांच लब्धियोंकी प्राप्ति करे।

१-क्षयोपशम—लब्धिमें ऐसी योग्यता पावे जो बुद्धि तत्वोंके समझनेयोग्य हो व जो अपने पापकर्मके उदयको समय २ अनन्त-गुणा कम करता जावे अर्थात जो दुःखोंकी सन्तानको घटा रहा हो, साताको पा रहा हो. आकुलित चित्तधारी जीव तत्वकी तरफ उपयोग नहीं लगा सक्ता है।

२-विशुद्धिलब्धि—सुशिक्षा व सत् संगतिके प्रतापसे भावोंमें ऐसी कषायकी मंदता हो कि जिससे शुभ व नीतिमय कार्योंकी तरफ चलनेका प्रेम व उत्साह हो व अशुभ व अप्रीतिसे परिणाम सकता हो। इस योग्यताकी प्राप्तिको विशुद्धि लब्धि कहते है।

३-देशनालब्धि—अपने हितकी खोजमें प्रेमी होकर श्रीगुरुसे व शास्त्रोंसे धर्मोपदेश ग्रहण करे, मनन करे, धारणामें रखे। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सात तत्वोंका स्वरूप व्यवहारनयसे और निश्चयनयसे ठीक २ जाने। व्यवहारनयसे जाने कि अजीव, आस्रव, बन्ध तो त्यागनेयोग्य हे व जीव. संवर, निर्जरा, मोक्ष ये चार तत्व ग्रहण करनेयोग्य है। निश्चयनयसे जाने कि इन सात तत्वोंमें दो ही द्रव्य हैं—जीव व कर्मपुद्गल। कर्मपुद्गल

त्यागनेयोग्य है व अपना ही शुद्ध जीव द्रव्य ग्रहण करनेयोग्य है। तथा सच्चे देव, शास्त्र, गुरुका लक्षण जानकर उनपर विश्वास लावे। इसतरह आत्माको व परपदार्थोंको ठीक २ समझे। शुद्ध निश्चयनयसे यह भलेप्रकार जान ले कि मै एक आतमा द्रव्य हूं, सिद्धके समान हूं, व अपने ही स्वभावमें परिणमन करनेवाला हूं। रागादि भावोंका कर्ता नहीं हूं व सांसारिक सुख व दुःखका भोगनेवाला हूं। मैं केवल अपने ही शुद्ध भावका कर्ता व शुद्ध आत्मीक आनंदका भोक्ता हूं, मै आठ कर्मोंमे शरीरादिसे व अन्य सर्व आत्मादि द्रव्योंसे निराला हू। तथा अपने गुणोंसे अभेद हूं। वह अपने आत्माको ऐसा समझे जैसा श्री कुन्दकुन्दाचार्यने **समयसारमे** कहा है—

जो पस्सदि अप्पाणं अबुद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो कोई अपने आत्माको पॉच तरहसे एक अखंड शुद्ध द्रव्य समझे।

(१) यह **अबद्धस्पृष्ट** है—न तो यह कर्मोंसे बंधा है और न यह स्पर्शित है।

(२) यह **अनन्य** है—जैसे कमल जलसे निर्लेप है, वह सदा एक आत्मा ही है, कभी नर नारक देव तिर्यंच नहीं है। जैसे मिट्टी अपने बने वर्तनोंमे मिट्टी ही रहती है।

(३) यह **नियत** है—निश्चल है। जैसे पवनके झकोरेके विना समुद्र निश्चल रहता है वैसे यह आत्मा कर्मके उदयके विना निश्चल है।

(४) यह **अविशेष** या सामान्य है—जैसे सुवर्ण अपने पीत, भारी, चिकने आदि गुणोंसे अभेद व सामान्य है वैसे यह आत्मा ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि अपने ही गुणोंसे अभेद या सामान्य है, एक रूप है।

(५) यह असंयुक्त है–जैसे पानी स्वभावसे गर्म नहीं है-ठंडा है वैसे यह आत्मा स्वभावसे परम वीतराग है–रागी, द्वेषी, मोही, नहीं है।

शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि परसे भिन्न आत्माको देखनेकी होती है। जैसे असलमे मैले पानीके भीतर मैल्मे पानी जुदा है, पानी निर्मल है, वैसे ही यह अपना आत्मा शरीरसे, आठ कर्मोंसे व रागादिसे सर्व परभावोंसे जुदा है। इस तरह आत्माको व अनात्माको ठीक २ जानकर आत्माका प्रेमी होजावे व सर्व इन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण आदि लौकिक पदोंसे व ससार देह भोगोंसे उदास होकर उनका मोह छोडदे और अपने आत्माका मनन करे। आत्माके मननके लिये नित्य चार काम करे–

(१) अरहंत सिद्ध परमात्माकी भक्ति पूजा करे, (२) आचार्य उपाध्याय साधु तीन प्रकारके गुरुओंकी सेवा करके तत्वज्ञानको ग्रहण करे, (३) तत्व प्रदर्शक ग्रन्थोका अभ्यास करे, (४) एकांतमे बैठकर सवेरे सांझ कुछ देर सामायिक कर व भेदविज्ञानसे अपने व परकी आत्माओंको एक समान शुद्ध विचारे। रागद्वेषकी विषमता मिटावे।

इसतरह मनन करते हुए कर्मोंकी स्थिति घटते घटते अंतः कोडाकोडी सागर मात्र रह जाती है तब चौथी प्रायोग्यलब्धि एक अन्तर्मुहूर्तके लिये होती है तब चौतीस बन्धापसरण होते है। हरएक बन्धापसरणमे सातसौ आठसौ सागर कर्मोंकी स्थिति घटती है। फिर जब सम्यक्तके लाभमे एक अन्तर्मुहूर्त बाकी रहता है तब करणलब्धिको पाता है तब परिणाम समय समय अनन्तगुण अधिक शुद्ध होते जाते है। जिन परिणामोंके प्रतापसे सम्यग्दर्शनके रोकनेवाले अनन्तानुबन्धी चार कषाय व मिथ्यात्व कर्मका अवश्य

उपशम हो जावे उन परिणामोंकी प्राप्तिको करणलब्धि कहते है। एक अन्तर्मुहुर्तमें यह बहिरात्मा चौथे गुणस्थानमे आकर सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा हो जाता है।

अन्तरात्माको पंडित कहते है, क्योंकि उसको भेदविज्ञानकी पंडा या बुद्धि प्राप्त होजाती है। इसको यह शक्ति होजाती है कि जब चाहे तब अपने आत्माके शुद्ध स्वभावको ध्यानमे लेकर उसका अनुभव कर सके। यह निःशंक होकर तत्वज्ञानका मनन करता रहता हैं। चारित्रमोहनीयके उदयसे गृहस्थ योग्य कार्योंको भले-प्रकार करता है तौभी उनमे लिप्त नहीं होता है। उन सबको नाटक जानके करता है। भीतरसे ज्ञातादृष्टा रहता है। भावना यह रहती कि कब कर्मका उदय हटे कि मैं केवल एक वीतराग भावका ही रमण करता रहूं। ऐसा अन्तरात्मा चार लक्षणोंसे युक्त होता है-

१-**प्रशम**-शांतभाव-वह विचारशील होकर हरएक बातपर कारण कार्यका मनन करता है, यकायक क्रोधी नहीं होजाता है। २ **संवेग**-वह धर्मका प्रेमी होता है व संसार शरीर व भोगोंसे वैरागी होता है। ३ **अनुकम्पा**-वह प्राणी मात्रपर कृपालु या दयावान होता हैं। ४ **आस्तिक्य**-उसे इसलोक व परलोकमे श्रद्धा होती है। **परमात्मप्रकाशमे** कहा है—

देह-विभिण्णउ णाणमउ, जो परमप्पु णिएइ।
परमसमाहि-परिट्ठियउ, पंडिउ सो जि हवेइ॥ १४॥

भावार्थ—जो कोई अपनी देहसे भिन्न अपने आत्माको ज्ञान-मई परमात्मारूप देखता है व परम समाधिमे स्थिर होकर ध्यान करता है, वही पंडित अन्तरात्मा है।

दंसणपाहुडमे कहा है—

जगतके करनेका, बनाने व बिगाडनेका कोई आरोप किया जा सक्ता है, न सुग्दु व कर्ममल भुगतानेका आरोप किया जा सक्ता है। वह संसारके प्रपचजालमें नहीं पड सक्ता है। वह परम कृतकृत्य है।

जगत अनादि है–कर्मकी जरूरत नहीं। काम इस जगतमें या तो स्वभावसे होजाते हैं जैसे पानीका भाफ बनना, बादल बनना, पानी बरसना, नदीका बहना, मिट्टीको लेजाना, मिट्टीका जमकर भूमि बन जाना, आदि२। किन्हीं कामोंके करनेमें इच्छावान संसारी जीव निमित्त हैं। खेती, कपडा, वर्तन, आदि; मनुष्य व घोंसले आदि पक्षी इच्छासे बनाते हैं, इस तरह जगतका काम चल रहा है।

पापपुण्यका फल भी स्वयं ही जाता है। कार्मण शरीरमें बन्धा हुआ कर्म जब पकता है तब उसका फल प्रगट होता है। जैसे क्रोध, मान, माया या लोभ व कामभावका होजाना या नित्य ग्रहण किया हुआ भोजन पानी हवाका स्वयं रस, रुधिर, अस्थि, चरबी, मांसादिमें बन जाना या रोगोंका होजाना, शरीरमें बल आजाना, विष खानेसे मरण होजाना।

यदि परमात्मा इस हिसाबको रखे तो उसे बहुत चिन्ता करनी पडे। तथा यदि उसे जगतके प्राणियोंपर करुणा होतो वह सर्वशक्तिमान होनेसे प्राणियोंके भाव ही बदल देवे जिससे वे पापकर्म न करें। जो फल देसक्ता है–दंड देसक्ता है वह अपने आधीनोंको बुरे कामोंसे रोक भी सक्ता है। परमात्मा सदा स्वरूपमें मगन परमानन्दका अमृत पान करते रहते हैं, उनसे कोई फल देनेका विकार या उद्योग संभव नहीं है। जब परमात्मा किसीपर प्रसन्न होकर सुख नहीं देता है तब परमात्माकी स्तुति, भक्ति व पूजा करनेका क्या प्रयोजन है?

इसका समाधान यह है कि वह पवित्र है, शुद्ध गुणोंका धारी है, उसके नाम स्मरणसे, गुण स्मरणसे, पूजा भक्ति करनेसे, भक्त-

जनोंके परिणाम निर्मल होजाते हैं, राग द्वेषके मैलसे रहित होजाते है, भावोंकी शुद्धिसे पाप स्वयं कट जाते है। शुभोपयोगसे पुण्य स्वयं वध जाता है। जैसे जड शास्त्रोंके पढने व सुननेसे परिणामोंमें ज्ञान व वैराग्य आजाता है वैसे परमात्माकी पूजा भक्तिसे परिणामोंमे शुद्ध आत्माका ज्ञान व संसारसे वैराग्य छाजाता है। परमात्मा उदासीन निमित्त है, प्रेरक निमित्त नहीं है। हम सब उनके आलंबनसे अपना भला कर लेते हैं। परमात्मा किसीको मुक्ति भी नहीं देते। हम तो परमात्माकी भक्तिके द्वारा जब अद्वैत एक निश्चल अपने ही आत्मामे स्थिर होकर परम समाधिका अभ्यास करेंगे तव ही कर्मोंसे रहित परमात्मा होंगे। इस कारणसे परमात्मा निर्मल है।

परमात्माके साथ तैजस, कार्मण, आहारक, वैक्रियिक या औदारिक किसी शरीरका सम्बंध नहीं होता है तथापि वह अमूर्तीक ज्ञानमय आकारको धरनेवाला होता है। जिस शरीरसे छूटकर परमात्मा होता है उस शरीरमे जैसा ध्यानाकार था वैसा ही आकार मोक्ष होने पर वना रहता है। आकार विना कोई वस्तु नहीं होसक्ती है। अमूर्तीक द्रव्योंका अमूर्तीक व मूर्तीक पुद्गल रचित द्रव्योंका मूर्तीक आकार होता है।

परमात्मा शुद्ध है, उसमें कर्ता कर्म आदिके कारक नहीं है तथा वह अपने अनंत गुणपर्यायोंका अखण्ड अमिट एक समुदाय है जिसमेंसे कोई गुण छूट नहीं सक्ता है न कोई नवीन गुण प्रवेश कर सक्ता है। उसी परमात्माको जिनेन्द्र कहते हैं। क्योंकि जगतमे कोई शक्ति नही है कि जो उसको जीत सके व उसे पुनः संसारी या विकारी बना सके। वह सदा विनयशील रहता है। विना कारणके रागद्वेषमे नहीं फसता है, न पाप पुण्यको बांधता है।

परमात्माका पद किसी कर्मका फल नहीं है। किंतु स्वाभाविक आत्माका पद है । इसलिये वह कभी विभाव रूप नही होसक्ता है । वही परमात्मा सच्चा विष्णु है, क्योंकि वह सर्वज्ञ होनेसे उसके ज्ञानमे सर्व द्रव्योंके गुणपर्याय एकसाथ विराजमान है। इसलिये वह सर्वव्यापी विष्णु है, वही सच्चा बुद्ध है, क्योकि ज्ञातादृष्टा है व सर्व अज्ञानसे रहित है । वही सच्चा शिव है, मगलरूप है । उसके भजनसे हमारा कल्याण होता है । तथा वह परमात्मा परम शात है, परम वीतराग है ।

निश्चयसे सिद्ध परमात्मा ही सच्चे परमात्मा है । अरहतकी आत्मामे भी परमात्माके गुण प्रगट है। परतु वे चार अघातीय कर्म-सहित है, शरीर रहित है । परतु शीघ्र ही सिद्ध होंगे । इसलिये उनको भी परमात्मा कहते है । सर्वज्ञ व वीतराग दोनों ही अरहंत व सिद्ध परमात्मा है ।

परमात्मा हमारे लिये आदर्श है, हमे उनको पहचानकर उनके समान अपनेको बनानेकी चेष्टा करनी चाहिये। परमात्मप्रकाशमे कहा है—

अप्पा लद्धउ णाणमउ, कम्मविमुक्कें जेण ।
मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु, सो परु मुणहि मणेण ॥१५॥
णिच्चु णिरंजणु णाणमउ, परमाणदसहाउ ।
जो एहउ सो संतु सिउ, तासु मुणिज्जहि भाउ ॥ १७ ॥
वेयहि सत्थहि इंदियहि, जो जिय मुणहु ण जाइ ।
णिम्मल-झाणहं जो विसउ, सो परमप्पु अणाइ ॥ २३ ॥

भावार्थ—जिसने सर्व कर्मोको दूर करके व सर्व देहादि पर-द्रव्योका सयोग हटाकर अपने ज्ञानमय आत्माको पाया है वही परमात्मा है, उसको शुद्ध मनसे जान। वह परमात्मा नित्य है, निरं-

जिन या वीतराग है, ज्ञानमय है, परमानंद स्वभावका धारी है। वही शिव है, शांत है। उसके शुद्ध भावको पहचान, जिसको वेदोंके द्वारा, शास्त्रोंके द्वारा, इन्द्रियोंके द्वारा जाना नहीं जासकता। मात्र निर्मल ध्यानमें वह झलकता है। वही अनादि, अनन्त, अविनाशी, शुद्ध आत्मा परमात्मा है। समाधिशतकमें कहा है—

निर्मल केवल, शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्यय ।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिन ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा कर्ममलरहित है, केवल स्वाधीन है, साध्यको सिद्ध करके सिद्ध है, सब द्रव्योंकी सत्तासे निराली सत्ताका धारी है, वही अनन्तवीर्य धारी प्रभु है, वही अविनाशी है, परमपदमें रहनेवाला परमेष्ठी है, वही श्रेष्ठ आत्मा है, वही शुद्ध गुणरूपी ऐश्वर्यका धारी ईश्वर है, वही परम विजयी जिनेन्द्र है।

श्री समन्तभद्राचार्य स्वयंभूस्तोत्रमें कहते हैं—

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे ।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥५७॥
दुरितमलकलङ्कमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।
अभवदभवसौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशान्तये ॥११५॥

भावार्थ—परमात्मा वीतराग हैं, हमारी पूजासे प्रसन्न नहीं होते। परमात्मा वैर रहित हैं, हमारी निन्दासे अप्रसन्न नहीं होते। तथापि उनके पवित्र गुणोंका स्मरण मनको पापके मैलसे साफ कर देता है। अनुपम योगाभ्याससे जिसने आठ कर्मके कठिन कलङ्कको जला डाला है व जो मोक्षके अतीन्द्रिय सुखका भोगनेवाला है वही परमात्मा है। मेरे संसारको शांत करनेके लिये वह उदासीन सहायक है। उसके ध्यानसे मैं संसारका क्षय कर सकूंगा।

बहिरात्मा परको आप मानता है।

देहादिउ जे पर कहिया ते अप्पाणु मुणेइ।

सोबहिरप्पा जिणभणिउ पुणु संसार भमेइ॥ १० ॥

अन्वयार्थ—(देहादिउ जे पर कहिया) शरीर आदि जिनको आत्मासे भिन्न कहा गया है (ते अप्पाणु मुणेइ) तिन रूप ही अपनेको मानता है (सो बहिरप्पा) वह बहिरात्मा है (जिणभणिउ) ऐसा जिनेन्द्रने कहा है (पुणु संसार भमेइ) वह वारवार ससारमे भ्रमण करता रहता है।

भावार्थ—आत्मा वास्तवमे एक अखड अमूर्तीक ज्ञानस्वरूपी द्रव्य है। इसका स्वभाव परम शुद्ध है। निर्मल जलके समान यह परम वीतराग व शात व परमानदमय है। जैसा सिद्ध परमात्मा सिद्धक्षेत्रमे एकाकी निरजन शुद्ध द्रव्य है वैसा ही यह अपना आत्मा शरीरके भीतर है। अपने आत्मामे और परमात्मामे सत्ताकी अपेक्षा अर्थात् प्रदेशोंकी या आकारकी अपेक्षा बिलकुल भिन्नता है परतु गुणोंकी अपेक्षा बिलकुल एकता है। जितने गुण एक आत्मामे है उतने गुण दूसरे आत्मामे है। प्रदेशोंकी गणना भी समान है। हरएक असख्यात प्रदेश धारी है।

इस तरहका यह आत्मा द्रव्य है। जो कोई ऐसा नहीं मानता किन्तु आत्माके साथ आठ कर्मोका सयोग सम्बध होनेसे उन कर्मोके उदय या फलमें जो जो अशुद्ध अवस्थाएं आत्माकी झलकती है उनको आत्माका स्वभाव जो मान लेता है वह बहिरात्मा है।

जैसे पानीमे भिन्न २ प्रकारका रग मिला देनेसे पानी लाल, हरा, पीला, काला, नीला, दिखता है। इस रंगीन पानीको कोई असली पानी मानले तो उसको मूढ व अज्ञानी कहेंगे तथा वह

पानीके स्थानमे रंगीन पानी पीकर पानीका असली स्वाद नहीं पा सकेगा, उसीतरह जो कर्मोंके उदयसे होनेवाली विकारी अवस्थाओंको आत्मा मान लेगा और उस आत्माका ग्रहण करके उसका ध्यान करेगा उस अज्ञानीको असली आत्माके ज्ञानानन्द स्वभावका स्वाद नही मिलेगा, वह विपरीत स्वादको ही आत्माका स्वाद मान लेगा। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तरायके क्षयोपशमसे जो अल्प व अशुद्ध ज्ञानदर्शनवीर्य ससारी जीवोंमे प्रगट होता है वह इन ही तीन प्रकारके कर्मोंके उदयसे मलीन है।

जहा सर्वघाती कर्मस्पर्द्धकोंका उदयाभाव लक्षण क्षय हो, अर्थात विना फल दिये झडना हो तथा आगामी उदय आनेवालोंका सत्तारूप उपशम हो तथा देशघाती स्पर्द्धकोंका उदय हो उसको क्षयोपशम कहते है। इस मलीन अल्प ज्ञान दर्शन वीर्यको पूर्ण ज्ञान-दर्शन वीर्य मानना मिथ्या है। इसीतरह मोहनीय कर्मके उदयसे क्रोध, मान, माया, लोभ भाव या हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा व स्त्रीवेद, पुंवेद व नपुंसकवेद भाव होता है। कभी लोभका तीव्र उदय होता है तब उसको अशुभ राग कहते है, कभी लोभका मन्द उदय होता है तब उसे शुभ राग कहते है।

मान, माया, क्रोधके तीव्र उदयको भी अशुभ भाव व मन्द उदयको जो शुभ रागका सहकारी हो, शुभ भाव कहते हैं। पूजा, भक्ति, दान, परोपकार, सेवा, क्षमा, नम्रता, सरलता, सत्य, सन्तोष, संयम, उपवासादि तप, आहार, औषधि, अभय व विद्यादान, अल्प ममत्व व ब्रह्मचर्य पालन आदि भावोंको शुभ भाव या शुभोपयोग कहते है। ऐसे भावोंसे पुण्यकर्मका बन्ध होता है।

हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, मूर्छा, जूआखेलना, मांसाहार, मदिरापान, शिकार, वेश्यासेवन, परस्त्रीसेवन, परका अपकार, दुष्ट

व्यवहार, इंद्रियोंकी लोलुपता, तीव्र अहंकार, दूसरोंको ठगना, तीव्र क्रोध, तीव्र लोभ, तीव्र कामभाव आदि भावोंको अशुभ भाव या अशुभोपयोग कहते हैं। इन अशुभ भावोंसे पापकर्मका बंध होता है। इन शुभाशुभ कर्मजनित मलीन व अशुचि, आकुलताकारी, दुःखद, शांतिविनाशक भावोंको आत्माका भाव मानलेना मिथ्या है।

अघातीय कर्मोंमें आयुकर्मके उदयसे नरक, तिर्यंच, मानव, देव चार प्रकार शरीरोंमें आत्मा कैद रहता है। इन पर्यायोंको आत्माका भाव मानना मिथ्या है। नामकर्मके उदयसे शरीरकी सुन्दर, असुन्दर, निरोगी, सरोगी, सबल, निर्बल आदि अनेक अवस्थाएं होती हैं उनको आत्मा मानना मिथ्या है। गोत्रकर्मके उदयसे नीच व ऊंच कुलवाला कहलाता है। उन कुलोंको अपना मानना मिथ्या है। वेदनीयकर्मके उदयसे साताकारी व असाताकारी शरीरकी अवस्था होती है या धन, कुटुम्ब, राज्य, भूमि, वाहन, घर आदि बाहरी अच्छे व बुरे, चेतन व अचेतन पदार्थोंका सम्बन्ध होता है उनको अपना मानना मिथ्या है।

बहिरात्मा अज्ञानसे कर्मजनित दशाओंके भीतर आपापना मानकर अपने आत्माके सच्चे स्वभावको भूले हुए कभी भी निर्वाणका मार्ग नहीं पा सकता। निरन्तर शुभ अशुभ कर्म बांधकर एक गतिसे दूसरीमें, दूसरीसे तीसरीमें इस तरह अनादि कालसे भ्रमण करता चला आया है।

यदि कोई साधु या गृहस्थका चारित्र पाले और इसे भी आत्माका स्वभाव जानले व मैं साधु मैं श्रावक ऐसा अहंकार करे तो वह भी बहिरात्मा है।

यद्यपि ज्ञानी श्रावक व साधुका आचरण पालता है तौभी वह उसे विभाव जानता है, आत्माका स्वभाव नहीं जानता। परम

शुद्धोपयोग भावरूप ही आत्मा है। शुक्लध्यान जो साधुके होता है वह परम शुद्धोपयोग नहीं है, क्योंकि दशवें गुणस्थान तक तो मोहका उदय मिला हुआ है। ग्यारहवें बारहवेंमें अज्ञान है, पूर्ण ज्ञान नहीं, इसलिये इस अपरम शुद्धोपयोगको भी आत्माका स्वभाव मानना मिथ्याभाव है। श्री **समयसारमें** कहा है—

परमाणुमित्तियं वि हु रागादीणं तु विज्जदे जस्स।

णवि सो जाणदि अप्पा णयं तु सव्वागमधरो वि ॥२१४॥

भावार्थ—जिसके भीतर परमाणु मात्र थोडासा भी अज्ञान सम्बंधी रागभाव है कि परद्रव्य या परभाव आत्मा है वह श्रुत-केवलीके समान बहुत शास्त्रोंका ज्ञाता है तौभी वह आत्माको नहीं पहचानता है, इसलिये बहिरात्मा है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें श्री अमृतचन्द्रआचार्य कहते है—

परिणममाणो नित्यं ज्ञानविवर्त्तैरनादिसन्तत्या।

परिणामाना स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च ॥ १० ॥

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।

स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १२ ॥

परिणममाणस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।

भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥ १३ ॥

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।

प्रतिभाति बालिशाना प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ॥ १४ ॥

भावार्थ—यह जीव अनादिकालकी परिपाटीसे ज्ञानावरणादि कर्मोंके उदयके साथ परिणमन या व्यवहार करता हुआ जो अपने अशुद्ध परिणाम करता है उनहीका यह अज्ञानी जीव अपनेको कर्ता तथा भोक्ता मान लेता है कि मैंने अच्छा किया या बुरा किया, या

है कि आत्मा आत्मारूप ही है। आत्माका स्वभाव सर्व अन्य आत्माओंसे व पुद्गलादि पांच द्रव्योंसे व आठ कर्मोंसे व आठ कर्मोंके फलसे, सर्व रागादि भावोंसे निराला परम शुद्ध है। भेदविज्ञानकी कलासे वह आत्माको परसे बिलकुल भिन्न श्रद्धान रखता है। भेद-विज्ञानकी शक्तिसे ही भ्रमभावका नाश होता है। हंस दूधको पानीसे भिन्न ग्रहण करता है, किसान धान्यसे चावलको भूसीसे अलग जानता है। सुवर्णकी मालामे सर्राफ सुवर्णको धागे आदिसे भिन्न समझता है, पकी हुई सागभाजीमे लवणका स्वाद सागसे भिन्न समझदारको आता है। चतुर वैद्य एक गुटिकासे सर्व औषधियोंको अलग २ समझता है। इसीतरह ज्ञानी अन्तरात्मा आत्माको सर्व देहादि पर द्रव्योंसे भिन्न जानता है।

आत्मा वास्तवमे अनुभवगम्य है। मनसे इसका यथार्थ चितवन नही होसकता, वचनोंसे इसका वर्णन नही होसक्ता, शरीरसे इसका स्पर्श नही होसक्ता। क्योंकि मनका काम क्रमसे किसी स्वरूपका विचार करना है। वचनोंसे एक ही गुण या स्वभाव एक साथ कहा जासक्ता है। शरीर मूर्तीक स्थूल द्रव्यको ही स्पर्श कर सक्ता है जब कि आत्मा अनन्तगुण व पर्यायोंका अखण्ड पिंड है। केवल अनु-भवसे ही इसका स्वरूप आसक्ता है। वचनोंसे मात्र संकेतरूपसे कहा जासक्ता है। मनके द्वारा क्रमसे ही विचारा जासक्ता है। इसलिये यह उपदेश है कि पहले शास्त्रोंके द्वारा या यथार्थ गुरुके उपदेशसे आत्मा द्रव्यके गुण व पर्यायोको समझ ले, उसके शुद्ध स्वभावको भी जाने तथा परके संयोगजनित अशुद्ध स्वभावको भी जाने अर्थात् द्रव्यार्थिकनयसे तथा पर्यायार्थिकनयसे या निश्चयनयसे तथा व्यवहारनयसे आत्माको भलेप्रकार जाने।

इस आत्माका सम्बन्ध [illegible]

आत्मा अपने ही ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणोंका स्वामी है। इसका धन इसकी गुणसम्पदा है, इसका निवास या घर इसीका स्वभाव है। इस आत्माका भोजनपान आदिक आनन्द अमृत है। आत्मामे ही सम्यग्दर्शन है, आत्मामे ही सम्यग्ज्ञान है, आत्मामे ही सम्यक्चारित्र है, आत्मामे ही सम्यक् तप है, आत्मामे ही संयम है, आत्मामे ही त्याग है, आत्मामे ही संवर तत्व है, आत्मामे ही निर्जरा है, आत्मामे ही मोक्ष है। जिसने अपने उपभोगको आत्मामे जोड दिया उसने मोक्षमार्गको पालिया।

आत्मा आपहीसे आपमे क्रीडा करता हुआ शनैः २ शुद्ध होता हुआ परमात्मा होजाता है। जितनी मन, वचन, कायकी शुभ व अशुभ क्रियाएँ हैं वे सब पर हैं, आत्मा नहीं हैं। चौदह गुणस्थानकी सीढ़िया भी आत्माका निज स्वभाव नहीं हैं। आत्मा परम पारणामिक एक जीवत्वभावका धनी है, जिसका प्रकाश कर्मरहित सिद्ध गतिमे होता है। जहा सिद्धत्वभाव है वहां जीवत्वभाव है। अतरात्मा अपने आत्माको परभावोंका अकर्ता व अभोक्ता देखता है। वह जानता है कि आत्मा ज्ञानचेतनामय है अर्थात् यह मात्र शुद्ध ज्ञानका स्वाद लेनेवाला है। इसमे रागद्वेषरूप कार्य करनेका अनुभवरूप कर्मचेतना तथा सुखदुःख भोगनेरूप कर्मफलचेतना नहीं है।

आत्माका पहचाननेवाला अन्तरात्मा एक आत्मरसिक होजाता है, आत्मानन्दका प्रेमी होजाता है, उसके भीतरसे विषयभोगजनित सुखकी श्रद्धा मिट जाती है, वह एक आत्मानुभवको ही अपना कार्य समझता है, उसके सिवाय जो व्यवहारमे गृहस्थ या मुनि अतरात्माको कर्तव्य करना पडता है वह सब मोहनीय कर्मके उदयकी प्रेरणासे होता है। इसीलिये ज्ञानी अन्तरात्मा सर्व ही धर्म, अर्थ, काम पुरुपार्थकी चेष्टाको आत्माका स्वाभाविक धर्म नही मानता है।

आत्मा तो स्वभावसे सर्व चेष्टारहित निश्चल परम कृतकृत्य है।

इसतरह आत्माको केवल आत्मारूप ही टंकोत्कीर्ण ज्ञाताद्रष्टा परमानन्दमय समझकर उसीमे रमण करनेका अत्यन्त प्रेमी होजाना अन्तरात्माका स्वभाव बन जाता है। तीन लोककी संपत्तिको वह आदरसे नहीं देखता है, उसका प्रतिष्ठाका स्थान केवल अपना ही शुद्ध स्वभाव है। इसी कारणसे सम्यग्दृष्टी अन्तरात्माको जीवमुक्त कहते हे। यह यथार्थ ज्ञानसे व परम वैराग्यसे पूर्ण होता है। परम तत्वका एक मात्र रुचिवान होता है। उसकी दृष्टि एक शुद्ध आत्म-तत्वपर जम जाती हे। **समयसार**मे कहा है—

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।
ण हु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमिक्को॥ २०७॥

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहि।
णदु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को॥ २१०॥

उप्पण्णोदयभोगे विओगवुद्धीय तस्स सो णिच्चं।
कंखामणागदस्सय उदयस्स ण कुव्वदे णाणी॥ २२८॥

भावार्थ—राग एक पुद्गलकर्म है, उसके फलसे आत्मामे राग भाव होता है। यह कर्मकृत विकार है, मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो एक ज्ञायक भावका धारी आत्मा हूं। जिनेन्द्रोंने कहा है कि कर्मोंके उदयसे जो नाना प्रकारका फल होता है वह सब मेरे आत्माका स्वभाव नहीं है। मैं तो एक ज्ञायक भावका धारी आत्मा हू। कर्मोदयसे प्राप्त वर्तमान भोगोमे भी ज्ञानीके आदर नहीं है वियोग बुद्धि ही हे। तब ज्ञानी आगामी भोगोकी इच्छा कैसे कर सकता है?

समयसारकलशमे कहा है—

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन स ।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः ॥ १४ ॥

भावार्थ—ज्ञानी अपनी आत्म वस्तुके स्वभावको ठीक ठीक जानता है, इसलिये रागादि भावोंको कभी आत्माका धन नहीं मानता है, आप उनका कर्ता नही होता है वे कर्मोदयसे होते है वह उनका जाननेवाला है।

वृहत् सामायिक पाठमे श्री अमितिगति आचार्य कहते है—

नाहं कस्यचिदस्मि कश्चन न मे भावः परो विद्यते
मुक्त्वात्मानमपास्तकर्मसमिति ज्ञानेक्षणालकृति ।
यस्यैषा मतिरस्ति चेतसि सदा ज्ञातात्मतत्त्वस्थिते—
र्बधस्तस्य न यन्त्रितस्त्रिभुवन सासारिकैर्बन्धनै ॥ ११ ॥

भावार्थ—अतरात्मा ज्ञानी विचारता है कि मै तो ज्ञान नेत्रोंसे अलकृत व सर्व कर्म समूहसे रहित एक आत्मा द्रव्य हू। उसके सिवाय कोई परद्रव्य या परभाव मेरा नही है न मै किसीका सबधी हूं। जिस आत्मीक तत्वके ज्ञाताके भीतर ऐसी निर्मल बुद्धि सदा रहती है उसका संसारीक बधनोसे बधन तीन लोकमे कही भी नही होसक्ता।

नागसेन मुनि तत्वानुशासनमे कहते है—

सद्द्रव्यमस्मि चिदह ज्ञाता द्रष्टा सदाप्युदासीन ।
स्वोपात्तदेहमात्रस्तत पृथग्गगनवदमूर्त्त ॥ १५२ ॥

भावार्थ—मैं सत् भाव द्रव्य हू, चैतन्यमय हू, ज्ञाता द्रष्टा हू। सदा ही वैराग्यवान हू। यद्यपि शरीरमे शरीर प्रमाण हूं तौ भी शरीरसे जुदा हू। आकाशके समान अमूर्तीक हू।

आत्मज्ञानी ही निर्वाण पाता है।

अप्पा अप्पउ जइ मुणहि तउ णिव्वाण लहेहि।
पर अप्पा जउ मुणिहि तुहुं तहु संसार भमेहि ॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(जइ) यदि (अप्पा अप्पउ मुणहि) आत्माको आत्मा समझेगा (तो णिव्वाण लहेहि) तो निर्वाणको पावेगा (जउ) यदि (पर अप्पा मुणहि) परपदार्थोंको आत्मा मानेगा (तहु तुहुं संसार भमेहि) तो तू संसारमें भ्रमण करेगा।

भावार्थ—निर्वाण उसे कहते हैं जहां आत्मा सर्व रागद्वेष, मोहादि दोषोंसे मुक्त होकर व सर्व कर्म-कलंकसे छूटकर शुद्ध सुवर्णके समान पूर्ण शुद्ध होजावे और फिर सदा ही शुद्ध भावोंमें ही कल्लोल करे व निरन्तर आनन्दामृतका स्वाद लेवे। यह आत्माका स्वाभाविक पद है। इस निर्वाणका साधन भी अपने ही आत्माको आत्मारूप समझकर उसीका तैसा ही ध्यान करना है।

हरएक कार्यके लिये उपादान और निमित्त दो कारणोंकी जरूरत है। जिस कारणको उपादान कारण कहते हैं जो स्वयं कार्यरूप होजावे। सहायक कारणोंको निमित्त कारण कहते हैं। जैसे घड़ा बनानेमें मिट्टी उपादान कारण है, कुम्हार चाक आदि निमित्त कारण हैं। कपड़ेके बनानेमें कपास उपादान कारण है, चरखा करघा आदि निमित्त कारण हैं। सुवर्णकी मुद्रिका बनानेमें सुवर्ण उपादान कारण है, सुवर्णकार, [illegible] व अग्नि आदि निमित्त कारण हैं।

इसीतरह आत्माके शुद्ध होनेमें उपादान कारण आत्मा ही है, निमित्त कारण व्यवहार रत्नत्रय है, मुनि व श्रावकका चारित्र है, बारह तप हैं, मन, वचन, कायकी क्रियाका निरोध है। निमित्तके होते हुए उपादान काम करता है। जैसे अग्निका निमित्त होते हुए

चावल भातके रूपमे बदलता है, दोनों कारणोंकी जरूरत है। साधकको या मुमुक्षुको सबसे पहले व्यवहार सम्यग्दर्शन द्वारा अर्थात् परमार्थदेव, शास्त्र, गुरुके श्रद्धान तथा जीवादि सात तत्वोंके श्रद्धान-द्वारा मनन करके भेदज्ञानकी दृढतासे अपने आत्माकी प्रतीतिरूप निश्चय सम्यग्दर्शनको प्राप्त करना चाहिये। तब ही आत्म-ज्ञानका यथार्थ उदय हो जायगा, वीतरागताका अंश झलक जायगा, संवर व निर्जराका कार्य प्रारंभ हो जायगा, मोक्षमार्गका उदय हो जायगा। कर्मोंका बन्ध जब रागद्वेष मोहसे होता है तब कर्मोंका क्षय वीतरागभावसे होता है। वीतरागभाव अपने ही आत्माका रागद्वेष मोह रहित परिणमन या वर्तन हैं। मुमुक्षुका कर्तव्य है कि वह बुद्धिपूर्वक परिणामोंको वीतरागभावमे लानेका पुरुषार्थ करे। तब कर्म स्वयं झडेंगे व नवीन कर्मके आस्रवका संवर होगा।

राग, द्वेष, मोहके पैदा होनेमे भीतरी निमित्त मोहकर्मका उदय है। बाहरी निमित्त दूसरे चेतन व अचेतन पदार्थोंका संयोग व उनके साथ व्यवहार है। इसलिये बाहरी निमित्तोंको हटानेके लिये श्रावकके बारह व्रतोंकी प्रतिज्ञा लेकर ग्यारह प्रतिमाकी पूर्तितक बाहरी परिग्रहको घटाते घटाते एक लगोट मात्रपर आना होता है। फिर निर्ग्रंथ दशा धारण करके बालकके समान नग्न हो जाना पडता है, साधुका चारित्र पालना पडता है, एकांतमे निवास करना पडता है, निर्जन स्थानोंमें आसन जमाकर आत्माका ध्यान करना पडता है, अनशन ऊनोदर रस त्याग आदि तपसे ही इच्छाका निरोध करना पडता है। सर्व श्रावकका या साधुका व्यवहारचारित्र पालते हुए बाहरी निमित्त मिलाते हुए साधककी दृष्टि उपादान कारणको उच्च बनानेकी तरफ रहनी चाहिये। अर्थात् अपने ही शुद्धात्माके

स्वभावमे रमण करनेकी व स्थिर होनेकी परम चेष्टा रहनी चाहिये।

साधकको बाहरी चारित्रमें निमित्त मात्रसे सन्तोष न करना चाहिये। जब आत्मा आत्मसमाधिमें व आत्मानुभवसे वर्तन करे तब ही कुछ फल हुआ, तब ही मोक्षमार्ग सधा ऐसा भाव रखना चाहिये। क्योंकि जबतक शुद्धात्मध्यान होकर शुद्धोपयोगका अश नही प्रगट होगा तबतक संवर व निर्जराके तत्व नही प्रगट होंगे। तबतक आत्माकी एकदेश शुद्धि नहीं होगी। निश्चयसे ऐसा समझना चाहिए कि निर्वाणका मार्ग एक आत्मध्यानकी अग्निका जलना है, एक आत्मानुभव है, आत्माका आत्मारूप ज्ञान है, आप ही आपको शुद्ध करता है, उपादान कारण आप ही हैं। यदि परिणामोंमे आत्मानुभव नही प्रगटे तो बाहरी चारित्रसे शुभ भावोंके कारण बध होगा, ससार बढ़ेगा, मोक्षका साधन नही होगा।

इसके विरोधमे जब कि आत्माका यथार्थ ज्ञान नहीं होगा व जबतक आत्माको अन्यरूप मानता रहेगा, जैसा उसका जिनेन्द्र भगवान कथित स्वरूप है वैसा नहीं मानेगा, आत्माको सांसारिक विकारका कर्ता व भोक्ता मानेगा व जबतक परमाणु भाव भी मोह अपने आत्माके सिवाय परपदार्थोंमे रहेगा तबतक मिथ्यात्वकी कालिमा नही मिटी ऐसा समझना होगा।

मिथ्यात्वकी कालिमाके होते हुए बाहरी साधुका व गृहस्थका चारित्र पालते हुए भी संसार ही वढेगा। विशेष पुण्य बांधकर शुभगतिमे जाकर फिर अशुभ गतिमे चला जायगा। जहांतक आत्माका आत्मारूप श्रद्धान नहीं होगा वहांतक मिथ्यादर्शनका अनादि रोग दूर नहीं होगा। पर्यायबुद्धिका अहंकार नही मिटेगा। विषयभोगोंकी कामनाका अश जब तक नहीं मिटेगा तब तक मिथ्या भाव नही हटेगा। विषयभोगोंका सुख त्यागने योग्य है, यह श्रद्धान जब तक न होगा तब तक मिथ्यात्व न हटेगा।

व्रतको जो आत्मज्ञान या आत्मानुभवकी चेष्टासे शून्य है, सर्वज्ञ भगवानने अज्ञान तप व अज्ञान व्रत कहा है।

समयसार कलशमें कहा है—

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल।

तत इदं निजबोधकलाबलात्कलयितुं यतता सततं जगत्॥११-७॥

भावार्थ—निर्वाणका पद शुभ क्रियाओंके करनेसे कभी प्राप्त नहीं होसक्ता। वह तो सहज आत्मज्ञानकी कलासे सहजमें मिलता है। इसलिये जगतके मुमुक्षुओंका कर्तव्य है कि वे आत्मज्ञानकी कलाके बलसे सदा ही उसीका यत्न करें।

तत्वानुशासनमें कहा है—

पश्यन्नात्मानमैकाग्र्यात्क्षपयत्यार्जितान्मलान्।

निरस्ताहंममीभावः संवृणोत्यप्यनागतान्॥ १७८ ॥

भावार्थ—जो कोई परपदार्थोंमें अहंकार ममकारका त्याग करके एकाग्रभावसे अपने आत्माका अनुभव करता है वह पूर्व संचय किए हुए कर्ममलोंको नाश करता है तथा नवीन कर्मोंका संवर भी करता है।

इच्छारहित तप ही निर्वाणका कारण है।

इच्छारहिउ तव करहि अप्पा अप्प मुणेहि।

तउ लहु पावइ परमगई पुण संसार ण एहि॥ १२ ॥

अन्वयार्थ—(अप्पा) हे आत्मा! (इच्छारहियउ तव करहि) यदि तू इच्छा रहित होकर तप करे (अप्प मुणेहि) व आत्माका अनुभव करे (तउ लहु परमगई पावइ) तो तू शीघ्र ही परम गतिको पावे (पुण संसार ण एहि) फिर निश्चयसे कभी संसारमें नहीं आवे।

भावार्थ—जैसे मलीन सुवर्ण अग्निमे मसाला डालनेसे शुद्ध होता है, उसका मैल कटता है, वैसे ही तपकी अग्निमे ज्ञान वैराग्यका मसाला डालनेसे यह अशुद्ध आत्मा कर्ममैलको काटकर शुद्ध होता है। शुद्ध सुवर्ण जो कुन्दन है वह फिर कभी मलीन नहीं होता है अर्थात् मलीन किट्ट कालिमासे नहीं मिलता है, वैसे ही शुद्ध व मुक्त आत्मा फिर कर्मोंके बंधमे नहीं पडता है, फिर संसारमे जन्म व मरण नहीं करता है।

इसलिये मुमुक्षुको तपका अभ्यास करना चाहिये। तप करते हुए किसी प्रकारकी इच्छा नही रखना चाहिये कि तपसे नारायण, प्रतिनारायण, बलदेव, चक्रवर्ती, इन्द्र, अहमिन्द्रपद या कोई सांसारिक विभूति या सांसारिक सुख प्राप्त हो या मान बडाई यश हो या शत्रुका क्षय हो। इस लोककी या परलोककी कोई वाछा तपस्वीको नहीं रखना चाहिये। केवल यही भावना करे कि मेरा आत्मा शुद्ध होकर निर्वाणका लाभ करे। इस शुद्ध निर्विकार भावनासे किया हुआ तप ही यथार्थ तप है। तप दो प्रकारका है–निश्चय तप, व्यवहार तप। अपने ही शुद्ध आत्माके श्रद्धान व ज्ञानमे तपना व लीन होना निश्चय तप है। उसके निमित्त रूप बारह प्रकारका तप करना व्यवहार तप है। निमित्तका सयोग मिलानेसे उपादानकी प्रगटता होती है। बारह तपके द्वारा निश्चय तप जो आत्मानुभव है वह बढता है।

बाह्य तप छः प्रकार है। जो तप बाहरी शरीरकी अपेक्षासे हों व दूसरोंको प्रत्यक्ष दीखे वे बाहरी तप हैं। उनके छः भेद इसप्रकार हैं–

(१) अनशन–खाद्य (पेट भरने योग्य), स्वाद्य (इलायची लोग सुपारी), लेह्य (चाटने योग्य चटनी आदि), पेय (पीने योग्य पानी आदि) इन चार प्रकारके आहारका त्याग एक दिन, दो दिन आदि कालके नियमसे या समाधिमरणके समय जन्म पर्यंत करना सो अप-

वास तप है। इससे इंद्रियोंपर विजय, रागका नाश, ध्यानकी सिद्धि व कर्मका क्षय होता है। उपवास करके निश्चय तपका साधन करे।

(२) **अवमोदर्य**–कम भोजन करना। इससे रोग शमन, आलस्य विजय, निद्रा विजय होता है व स्वाध्याय तथा ध्यानकी सिद्धि होती है।

(३) **वृत्तिपरिसंख्यान**–भिक्षाको जाते हुए एक आदि घरोंका व किसी वस्तुकी प्राप्तिका नियम करना। भोजन लाभ न होनेपर सन्तोष रखना–आशाको जीतना।

(४) **रस परित्याग**–घृत, दूध, दही, शक्कर, लवण, तैल इन छः रसोंमेसे एक दो चार या सबका त्याग करना। इससे इन्द्रिय-विजय, ब्रह्मचर्य रक्षा, निद्रा–विजय होकर स्वाध्याय व ध्यानकी सिद्धि होती है।

(५) **विविक्त शय्यासन**–स्त्री, पुरुप, नपुसक रहित व जन्तु पीडा रहित निर्जन स्थानोंमे शयन, आसन करना, जिससे वाधा रहित ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय व ध्यानकी सिद्धि होसके।

(६) **कायक्लेश**–धूपमे, वृक्षमूलमे, मैदानमे, पर्वतपर, गुफामें नानाप्रकारके आसनोंके द्वारा ऐसा तप करना जो दूसरोंको कायक्लेश विदित हो। इससे देहका ममत्व घटता है व सुखिया स्वभाव मिटता है व ध्यानकी सिद्धि होती है। इसमें ध्यानका अभ्यासी शरीरकी शक्ति देखकर कठिन तप करता है, परिणामोंमे आर्तध्यान हो जावे ऐसा क्लेश नहीं सहता है।

छः अभ्यन्तर तप है। इनको अभ्यन्तर इसलिये कहते है कि इनमें मनके निग्रह करनेकी व परिणामोकी निर्मलताकी मुख्यता है। वे छः हैं:—

(१) **प्रायश्चित्त**—प्रमादसे लगे हुए दोषोंकी शुद्धि स्वय या

गुरु द्वारा दण्ड लेकर करते रहना। जैसे कपडेपर कीचका छींटा पडनेसे तुर्त धो डालनेसे वस्त्र साफ रहता है, वैसे ही मन, वचन, काय द्वारा दोष होजाने पर उसको आलोचना, प्रतिक्रमण तथा प्रायश्चित्त लेकर दूर कर देना चाहिये, तब परिणाम निर्मल रह सकेंगे।

(२) विनय—बडे आदरसे ज्ञानको बढाना, श्रद्धानको पक्का रखना, चारित्रको पालना व पूज्य पुरुषोंमे विनयसे वर्तना, उनके गुण स्मरण करना विनय तप है।

(३) वैय्यावृत्य—साधु, आर्यिका, श्रावक, श्राविका आदिकी सेवा करना। रोग, अन्य परीषह, व परिणामोंकी शिथिलता आदि होनेपर शरीरसे व उपदेशसे या अन्य उपायसे आकुलता मेटना वैय्यावृत्य या सेवा तप है। इससे ग्लानिका अभाव, वात्सल्य गुण, धर्मकी रक्षा आदि तप होता है। महान पुरुषोंकी सेवासे ध्यान व स्वाध्यायकी सिद्धि होती है।

(४) स्वाध्याय—ज्ञानभावना व आलस्य त्यागके लिये पांच प्रकार स्वाध्याय करना योग्य है—

(१) निर्दोष ग्रंथको पढ़ना व पढ़ाना व सुनाना व सुनना (२) संशय छेद व ज्ञानकी दृढ़ताके लिये प्रश्न करना, (३) जाने हुए भावका वारम्वार विचारना, (४) शुद्ध शब्द व अर्थको घोखकर कण्ठ करना, (५) धर्मका उपदेश देना—वाचना, पृच्छना, आनुप्रेक्षा, आम्नाय, धर्मोपदेश ये पांच नाम हैं। इनसे ज्ञानका अतिशय बढता है, परम वैराग्य होता है व दोषोंकी शुद्धिका ध्यान रहता है।

(५) व्युत्सर्ग—बाहरी शरीर धन गृहादिसे व अंतरंग रागादि भावोंसे विशेष ममताका त्याग करना. निर्लेप होजाना, असंगभावको पाना व्युत्सर्ग तप है।

(६) ध्यान—किसी एक ध्येयमें मनको रोकना ध्यान है। धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान मोक्षके कारण है, उनका अभ्यास करना योग्य है। आर्तध्यान व रौद्रध्यानसे बचना योग्य है।

तप करना व तपका आराधन निर्वाणके लिये बहुत आवश्यक है। निश्चय तपकी मुख्यतासे तप किये बिना कर्मोंकी निर्जरा नहीं होती है। तपसे संवर व निर्जरा दोनों होते है।

समयसारमे कहा है—

अप्पाणमप्पणोरुंभिदूण दोसु पुण्णपावजोगेसु।
दंसणणाणम्हि ठिदो इच्छाविरदो य अण्णह्मि ॥ १८० ॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चितेदि एयत्तं ॥ १८१ ॥
अप्पाण झायंतो दसणणाणमइओ अणण्णमणो।
लहदि अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मणिम्मुक्कं ॥ १८२ ॥

भावार्थ—पुण्य व पाप बंधके कारक शुभ व अशुभयोगोंसे अपने आत्माको आत्माके द्वारा रोककर जो आत्मा अन्य परद्रव्योंकी इच्छासे विरक्त हो व सर्व परिग्रहकी इच्छासे रहित हो, दर्शनज्ञानमई आत्मामे स्थिर बैठकर आपसे अपनेको ही ध्याता है। भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्मको रंच मात्र स्पर्श नहीं करता है, केवल एक शुद्ध भावका ही अनुभव करता है, वह एकाग्र मन हो स्वय दर्शन ज्ञानमय होकर आत्माको ध्याते ध्याते थोड़े ही कालमे सर्व कर्मरहित आत्माको या मोक्षको पा लेता है।

श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासनमें कहते है—

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युति।
तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज्ज्ञानभावनाम् ॥ १७४ ॥

मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान् मूलांकुराविव ।
तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा ॥ १८२ ॥

अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो ।
यदीच्छसि फल तयोरिह हि लाभपूजादिकम् ॥
छिनत्सि सुतपस्तरो प्रसवमेव शून्याशय ।
कथ समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वं फलम् ॥ १८९ ॥

भावार्थ—आत्माका स्वभाव ज्ञानमय है। उस स्वभावकी प्राप्तिको ही मोक्ष कहते है, इसलिये मोक्षके वाञ्छकको ज्ञानकी भावना भानी चाहिये। जैसे बीजसे मूल व अकुर होते है वैसे मोहके बीजसे रागद्वेष पैदा होते है। इसलिये जो इन रागद्वेषोंको जलाना चाहे उसे ज्ञानकी आग जलाकर उनको भस्म कर देना चाहिये। हे भव्य! तू सर्व शास्त्रोंको पढकर व चिरकालतक घोर तप तपकर यदि इन दोनोका फल सांसारिक लाभ या पूजा प्रतिष्ठा आदि चाहता है तो तू जडबुद्धि होकर सुन्दर तपरूपी वृक्षकी जडको ही काट रहा है, किसतरह तू रसीले पक्के फलको अर्थात् मोक्षके फलको पा सकेगा?

श्री कुन्दकुन्दाचार्य 'भावपाहुडमे कहते है—

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो ।
सयलो झाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाण ॥ ८९ ॥

भावार्थ—जिनका भाव शुद्ध आत्मामे स्थिर नहीं है उनका बाहरी परिग्रहका त्याग पहाड, नदी, तट, गुफा, कन्दरा, आदिका रहना, ध्यान व पठन पाठन सर्व निरर्थक है।

परिणामोंसे ही बंध व मोक्ष होता है ।

परिणामें बंधुजि कहिउ मोक्ख वि तह जि वियाणि ।
इउ जाणेविणु जीव तुहुं तह भावहु परियाणि ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ—(परिणामे बंधुजि कहिउ) परिणामोंसे ही कर्मका बंध कहा गया है **(तह जि मोक्ख वि वियाणि)** तैसे ही परिणामोंसे ही मोक्षको जान **(जीव)** हे आत्मन् ! **(इउ जाणेविणु)** ऐसा समझकर **(तुहुं तह भावहु परियाणि)** तू उन भावोंकी पहचान कर ।

भावार्थ—आत्मा आप ही अपने भावोंका कर्ता है । स्वभावसे यह शुद्ध भावका ही कर्ता है । यह आत्मद्रव्य परिणमनशील है । यह स्फटिकमणिके समान है । स्फटिकमणिके नीचे रंगका संयोग हो तो वह उस रंग रूप लाल, पीली, काली, झलकती है । यदि पर वस्तुका संयोग न हो तो वह स्फटिक निर्मल स्वरूपमे झलकती है । इसी तरह इस आत्मामे कर्मोंके उदयके निमित्तसे विभावोंमें या औपाधिक अशुद्ध भावोंमे परिणमनकी शक्ति है । यदि कर्मके उदयका निमित्त हो तो यह अपने निर्मल शुद्ध भावमे ही परिणमन करता है । मोहनीय कर्मके उदयसे विभाव भाव होते है । उन औदयिक भावोंसे ही बन्ध होता है ।

अशुद्ध भावोंका निमित्त पाकर स्वयमेव कर्मवर्गणाएं आठ कर्मरूप या सात कर्मरूप बन्ध जाती है । बन्धकारक भाव दो प्रकारके होते है—शुभ भाव या शुभोपयोग, अशुभ भाव या अशुभोपयोग । मन्द कषायरूप भावोंको शुभोपयोग कहते हैं, तीव्र कषायरूप भावोंको अशुभोपयोग कहते है । दोनों ही प्रकारके भाव अशुद्ध है, बन्धके ही कारण है । जहांतक कषायका रंच मात्र भी उदय है वहातक कर्मोंका

बन्ध है। इसके सूक्ष्मलोभ गुणस्थानतक बन्ध है।

रागद्वेष, मोह, भाव, बन्धहीके कारण हैं। ज्ञानीको यह भले-प्रकार समझना चाहिये। मुनिव्रत या श्रावकके व्रतका राग या तपका राग या भक्तिका राग या पठनपाठनका राग या मन्त्रोंके जपका राग यह सब राग बन्धहीका कारण है। साधुका कठिनसे कठिन चारित्रको राग सहित पालता हुआ भी बन्धको ही करता है। मोक्षका कारण भाव एक वीतरागभाव है या शुद्धोपयोग है या निश्चय रत्नत्रय है। शुद्धात्माका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, शुद्धात्माका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, शुद्धात्माका ध्यान सम्यक्चारित्र है। यह रत्नत्रय धर्म एकदेश भी हो तौभी बन्धका कारण नहीं है।

ज्ञानीको यह विश्वास रखना चाहिये कि मेरा उपयोग जब सर्व चिंताओंको त्यागकर अपने ही आत्माके स्वभावमें एकाग्र होगा ऐसा तन्मय होगा कि जहां ध्याता, ध्यान, ध्येयका भेद न रहे, गुण गुणीके भेदका विचार न रहे, बिलकुल स्व रूपमें उपयोग ऐसा घुल जावे कि जैसे लवणकी डली पानीमें घुल जाती है। आत्म-समाधि प्राप्त होजावे या स्वानुभव होजावे। इसहीको ध्यानकी अग्नि कहते हैं। यह एकाग्र शुद्धभाव मोक्षका कारण है, संवर व निर्जराका कारण है। इस भावकी प्राप्तिकी कला अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुण-स्थानसे प्राप्त होजाती है।

चौथे, पांचवे देशविरत तथा छठे प्रमत्तविरत गुणस्थानमें प्रवृत्ति मार्ग भी है, निवृत्ति मार्ग भी है। जब ये गृहस्थ तथा साधु ध्यानस्थ होते हैं तब निवृत्ति मार्गमें चढ जाते हैं। जब गृहस्थ धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ साधते हैं या साधुका व्यवहार चारित्र, आहार विहार, स्वाध्याय, धर्मोपदेश आदि पालते हैं तब प्रवृत्तिमार्ग है। निवृत्ति मार्गमें उपयोग एक शुद्धात्माके सन्मुख ही रहता है। प्रवृत्ति

मार्गमें चारित्रकी अपेक्षा उपयोग पर द्रव्योंके सन्मुख रहता है। सातवेंसे लेकर दसवें गुणस्थान तक साधुके निवृत्तिमार्ग ही है, प्रवृत्ति नहीं है, ध्यान अवस्था ही है।

इस तरह चौथेसे दशवें गुणस्थान तक दोनों निवृत्ति व प्रवृत्तिमार्ग यथासंभव होते हुये भी अप्रत्याख्यानादि कषायका उदय, चौथेमे प्रत्याख्यानादि कषायका उदय, पांचवेंमें संज्वलन कषायका तीव्र उदय, छठेमे सञ्वलनका मंद उदय, सातवेसे दशवें तक रहता है। ध्यानके समय इन कषायोंका उदय बहुत मंद होता है। प्रवृत्तिके समय तीव्र होता है। तथापि जितना कषायका उदय होता है वह तो कर्मको ही बांधता है। जितना रत्नत्रय भाव होता है वह संवर व निर्जरा करता है। बंध व निर्जरा दोनों ही धाराएँ साथ साथ चलती रहती है।

हरएक जीव गुणस्थानके अनुसार बन्धयोग्य प्रकृतियोका बध अवश्य करता है। निवृत्ति मार्गमे आरूढ होनेपर घातीय कर्मोंकी स्थिति व उनका अनुभाग बहुत कम पडता है व अघातीयोंमे केवल शुभ प्रकृतियोंका ही बन्ध होता है, उनमें स्थिति कम व अनुभाग अधिक पडता है। प्रवृत्ति मार्गमें शुभोपयोगकी दशामें तो ऐसा ही होता है, किन्तु तीव्र कषायके उदयसे अशुभोपयोग होनेपर घातीय कर्मोंमे स्थिति व अनुभाग अधिक पड़ेगा व अघातीयमें पापकर्मोंको अधिक स्थिति व अनुभाग लिये हुए बाँधेगा।

प्रयोजन यह है कि शुभ या अशुभ दोनों ही भाव अशुद्ध हैं बन्धहीके कारण हैं। मोक्षका कारण एक शुद्ध भाव है, वीतरागभाव है, शुद्धात्माभिमुख भाव है ऐसा श्रद्धान ज्ञानीको रखना चाहिये।

समयसारमें कहा है—

अज्झवसिदेण बन्धो सत्ते मारे हि माव मारे हि।
एसो बन्धसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥ २७४ ॥

वत्थुं पडुच्च तं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं।
ण हि वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्ति ॥ २७७ ॥
एदाणि णत्थि जेसि अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण य कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥२८७॥

भावार्थ—हिंसक परिणाममे बन्ध अवश्य होगा, चाहे प्राणी मरो या न मरो। वास्तवमे जीवोंको कर्मका बंध अपने विकारी भावोंसे होता है, यही बंधका तत्त्व है। यद्यपि बाहरी पदार्थोंके निमित्तसे अशुद्ध परिणाम होता है। तथापि बाहरी वस्तुओंके कारण बध नहीं होता है। बंध तो परिणामोंसे ही होता है। जिनके शुभ या अशुभ दोनो ही प्रकारके परिणाम नहीं है वे मुनि पुण्य तथा पाप-कर्मोंसे नहीं बधते है। **समयसारकलशामे** कहा है—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षति।
कि त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय त-
न्मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥ ११—४ ॥

भावार्थ—जबतक मोहनीय कर्मका उदय है तबतक ज्ञानमे पूर्ण वीतरागता नहीं होती है, तबतक मोहका उदय और सम्यग्ज्ञान दोनों ही साथ २ रहते है, इसमे कुछ हानि नहीं है, किन्तु यहा जितना अश कर्मके उदयसे अपने वश विना राग है उतने अश बध होगा तथा परसे मुक्त जो परम आत्मज्ञान है वह स्वय मोक्षका ही कारण है। रत्नत्रयका अश बधकारक नहीं है, राग अश बधकारक हे। श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड़मे कहते हैं—

भावं तिविहपयारं सुहासुहं सुद्धमेव णायव्व।
असुहं च अट्टरुद्दं सुह धम्मं जिणवरिंदेहि ॥ ७६ ॥

सुद्धं सुद्धसहावं अप्पा अप्पम्मि तं च णायव्वं।

इदि जिणवरेहि भणियं जं सेयं तं समायरह ॥ ७७ ॥

भावार्थ—जीवोंमे तीन प्रकारके भाव जानने चाहिये। अशुभ, शुभ, शुद्ध आर्त व रौद्रध्यान अशुभभाव है, धर्मध्यान शुभभाव है।

शुद्ध भाव आत्माका शुद्ध स्वभाव है, जब आत्मा आत्मामें रमण करता है ऐसा जिनेन्द्रने कहा है। जिससे कल्याण हो उसको आचरण कर। प्रयोजन यहां यह है कि जब भीतरी आशयमे इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, पीडा, चितवन व भोगाकांक्षा निदानभाव है या हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द, परिग्रहानन्द इसतरह चार प्रकारके आर्त या चार प्रकारके रौद्रध्यानमेसे कोई भाव है तो वह अशुभभाव है। धर्म रत्नत्रय है उसमे प्रेमभाव शुभभाव है। निर्विकल्प आत्मीक भाव शुद्धभाव है।

इससे यह भी झलकाया है कि सम्यग्दृष्टी ज्ञानीके ही शुद्धभाव होता है। मिथ्यादृष्टीके मन्द कषायको व्यवहारमे शुभभाव कहते है परंतु उसका आशय अशुभ होनेसे उसमे कोई न कोई आर्त व रौद्र-ध्यान होता है। इसलिये उसे अशुभभावमे ही गिना है। मोक्षका कारण एक शुद्ध भाव ही है, वह आत्मानुभव रूप है।

पुण्यकर्म मोक्ष-सुख नहीं दे सक्ता।

अह पुणु अप्पा ण वि मुणहि पुण्णु वि करइ असेसु।

तउ वि ण पावइ सिद्धसुहु पुणु संसार भमेसु ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ—(अह पुणु अप्पा ण वि मुणहि) यदि तू आत्माको नहीं जानेगा (असेसु पुण्णु वि करइ) सर्व पुण्य

कर्मको ही करता रहेगा (तउ वि सिद्धि सुहु ण पावइ) तौ भी तू सिद्धके सुखको नहीं पावेगा (पुणु संसार भमेसु) पुनः पुनः संसारमे ही भ्रमण करेगा।

भावार्थ—मोक्षका सुख या सिद्ध भगवानका सुख आत्माका स्वाभाविक व अतीन्द्रिय गुण है। यह बिलकुल परमानद हरएक आत्माका स्वभाव है। उसका आवरण ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अन्तराय चारों ही घातीय कर्मोंने कर रखा है। जब इनका नाश होजाता है तब अनत अतीन्द्रिय सुख अरहत केवलीके प्रगट हो जाता है, वही सिद्ध भगवानमे या मोक्षमे रहता है। इस सुखके पानेका उपाय भी अपने आत्माका श्रद्धान, ज्ञान व आचरण है। सम्यग्दृष्टीको अपने आत्माके सच्चे स्वभावका पूर्ण विश्वास रहता है। इसलिये वह जब उपयोगको अपने आत्मामे ही अपने आत्माके द्वारा तल्लीन करता है तब आनदामृतका पान करता है। इस ही समय वीतराग परिणतिसे पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा होती है व नवीन कर्मोंका संवर होता है। आत्मा आप ही साधक है, आप ही साध्य है। उस तत्वका जिसको श्रद्धान नहीं है वह पुण्यबधके कारक शुभ मन वचन काय द्वारा अनेक कार्य करता है और चाहता है कि मोक्ष-सुख मिल सके, सो कभी नहीं मिल सक्ता है। जहा मन वचन कायकी क्रियापर मोह है वहां परसे अनुराग है। आत्मासे दूरवर्तीपना है वहा बंध होगा, निर्जरा नहीं होगी।

कोई मानव कठिनसे कठिन तपस्या वा व्रतादि पाले व आप भी पुण्यबंधके अनेक कार्य करे, वह ससार मार्गका ही पथिक है व निर्वाणका पथिक नहीं। वह बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है। वह द्रव्य-लिंगी साधुका चारित्र पालता है। शास्त्रोक्त व्रत समिति गुप्ति पालता है, तप करता है। आत्मज्ञान रहित तपसे वह महान पुण्य

बांधकर नौमे ग्रैवेयिकमें जाकर अहमिंद्र होजाता है। आत्मज्ञान विना वहांसे चयकर संसार-भ्रमणमे ही रुलता है।

शुद्धोपयोग ही वास्तवमें मोक्षका कारण है। इस तत्वको भले प्रकार श्रद्धानमे रखकर अन्तरात्मा मोक्षमार्गी होता है तब इसकी दृष्टि हरसमय अपने आत्मामे रमणकी रहती है। यह आत्माकी शांत गङ्गामें स्नान करना ही धर्म समझता है। इसके सिवाय सर्व ही मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिको अपना धर्म न समझकर बंधका कारक अधर्म समझता है। व्यवहारमें शुभ क्रियाको धर्म कहते हैं परन्तु निश्चयसे जो बन्ध करे वह धर्म नहीं होसक्ता।

जिस समय सम्यग्दर्शनका लाभ होता है उसी समय वह सर्व शुभ प्रवृत्तियोंसे उसी तरह उदास होजाता है। जैसा वह अशुभ प्रवृत्तियोंसे उदास है, वह न मुनिके व्रत न श्रावकके व्रत पालना चाहता है। परन्तु आत्मबलकी कमीसे जब उपयोग अपने आत्माके भीतर अधिक कालतक थिर नही रहता है तब अशुभसे वचनेके लिये वह शुभ कार्य करता है। परन्तु उसे बंधकारक ही जानता है। भीतरी भावना यह रहती है कि कब मैं फिर आत्माके ही साथमे रमण करूं। मैं अपने घरसे छूटकर पर घरमे आगया, अपराधी हो गया। सम्यक्ती बन्धकारक शुभ कार्योंसे कभी मोक्षका साधन नहीं मानता है।

जिस साधनसे वीतराग परिणति झलके उसे ही मोक्षमार्ग जानता है। इसलिये वह शुभ कामोंको लाचारीसे करता हुआ भी मोक्षमार्गी है। निश्चय रत्नत्रय ही धर्म है, व्यवहार रत्नत्रय यद्यपि निश्चय रत्नत्रयके लिये निमित्त है तथापि बंधका कारण होनेसे वह निश्चयकी अपेक्षा अधर्म है। ज्ञानी आत्माके कार्यके सिवाय अन्य कार्यमे जानेको अपना अपराध समझता है। ज्ञानमे ज्ञानके रमणको

ही अपना सच्चा हित जानता है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टी चौथे अविरत गुणस्थानमें भी है तौभी वह निरन्तर आत्मानुभवका ही खोजक बना रहता है। वह व्यवहार धर्म पूजा पाठ, जप तप, स्वाध्याया व्रत आदि जो कुछ भी पालता है उसके भीतर वह पुण्यकी खोज नहीं करता है, न वह पुण्यको चाहता है। वह तो व्यवहार धर्मके निमित्तसे निश्चयधर्मको ही खोजता है। जबतक नहीं पाता है तबतक अपना व्यवहार धर्मका साधन केवल पुण्यबंध करेगा ऐसा समझता है।

जैसे चतुर व्यापारी केवल धनको कमानेका प्रेमी होता है– वह हाटमे जाता है, माल खरीदता है, रखता उठाता है, तोलता नापता है, विक्रय करता है। जब धनका लाभ करता है तब ही अपना सर्व प्रयास सफल मानता है। यदि अनेक प्रकार परिश्रम करनेपर भी धनकी कमाई न हो तो वह अपनेको व्यापार करनेवाला नही मानता है।

सर्व उद्यम कमानेका करता हुआ भी वह उस उद्यमको धनका लाभ नहीं मानता है। धनका लाभ ही उसका ध्येय है, उस ध्येयकी सिद्धिका उद्यम निमित्त हे इसलिये वह उद्यम करता है। परन्तु रात दिन चाहना एक धनके लाभकी है। धनकी वृद्धिको ही अपनी सफलता मानता है। इसी तरह सम्यग्दृष्टी ज्ञानी आत्मानुभवके लाभको ही अपना लाभ मानता है, वह रात दिन आत्मानुभवको ही खोजमें रहता है। इसी हेतुसे बाहरी व्यवहार धर्मका उद्यम करता है कि उसके सहारेसे परिणाम फिर शीघ्र ही आत्मामे जाकर आत्मस्थ हो जावे। उदाहरणार्थ एक सम्यग्दृष्टी गृहस्थ भगवानकी पूजा करता है, गुणानुवाद गाता है, अरहन्त व सिद्धके आत्मीक गुणोका वर्णन करते हुए अपने आत्मीक गुणोंका वर्णन मानता है। लक्ष्य अपने आत्मापर होते हुए वह पूजाके कार्यके मध्यमे कभी

कभी अत्यन्त अल्पकालके लिये भी आत्मामे रमण करके आत्मानुभवको पा लेता है, आत्मानन्दका भोगी हो जाता है।

इसीतरह सामायिक करते हुए, पाठ पढते हुए, जप करते हुए, मनन करते हुए आत्मामे थिरता पानेकी खोज करता है। जब उसे कुछ देर भी आत्मानुभव हो जाता है तब यह यात्रादिक करना सफल जानता है। व्यापारी धनका खोजक है, सम्यक्ती आत्मानुभवका खोजक है। आत्मानुभवकी प्राप्तिकी भावना विना शुभ कार्य केवल बन्धहीके कारण है। आत्मानुभवका लाभ ही मोक्षके कारणका लाभ है, क्योंकि वहां निश्चय सम्यक्त, निश्चय सम्यग्ज्ञान व निश्चय सम्यक्चारित्र तीनों गर्भित है। मोक्षकी दृष्टि रखनेवाला मोक्षमार्गी है। संसारकी दृष्टि रखनेवाला ससारमार्गी है।

जो ससारकी दृष्टि रखके भूलसे उसे मोक्षकी दृष्टि मान ले वह मिथ्यादृष्टी है। सम्यग्दृष्टी मोक्षकी दृष्टि रखते हुए शुभ भावोंको बन्धका कारक व शुद्ध आत्मीक भावको मोक्षका कारक मानता है। इसी बातको इस दोहेमे योगीन्द्राचार्यने प्रगट किया है कि व्यवहार धर्ममे उलझकर निश्चय धर्मकी प्राप्तिको भुला न दो। यदि आत्मानुभवका स्वरूप चला गया तो भवभवमे अनन्तवार साधुका चरित पालते हुए भी ससार ही बना रहना है। वह एक कदम भी मोक्षमार्गपर नही चल सक्ता इसलिये पुण्य बन्धनके कारक भावोंको मोक्षमार्ग कभी नहीं मानना चाहिये। समयसारमे कहा है—

वदणियमाणिधरन्ता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठबाहिरा जेण तेण तं होंति अण्णाणी ॥ १६० ॥
परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं विमोक्खहेदुं अयाणंता ॥ १६१ ॥

भावार्थ—जो व्रत नियम धारे, शील पाले, तप करे, परन्तु निश्चय आत्म-स्वभावके धर्मसे बाहर हो तो ये सब अज्ञानी बहिरात्मा हैं। परमार्थ आत्मतत्वमे जो नहीं समझते वे अज्ञानसे संसार-भ्रमणके कारण पुण्यकी ही वांछा करते हैं। क्योंकि उनको मोक्षके कारणका ज्ञान ही नहीं है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुडमे कहते है—

कि काहिदि बहिकम्मं किं काहिदि वहुविहं च खवणं तु।
कि काहिदि आदावं आदसहावस्स विवरीदो॥ ९९॥

भावार्थ—जो आत्माके स्वभावसे परे है, आत्माको ही अनुभव करता है उसके लिये बाहरी क्रियाकाण्ड क्या फल देसक्ता है। नाना प्रकार उपवासादि तप क्या कर सक्ता है। आतापन योग आदि कायक्लेश क्या कर सक्ता है। अर्थात् मोक्षके साधक नहीं हो सकते। मोक्षका साधन एक आत्मज्ञान है। समाधिशतकमें कहा है—

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम्।
लभते न स निर्वाणं तप्त्वापि परमं तपः॥ ३३०॥

भावार्थ—जो कोई शरीरादिसे भिन्न इस प्रकारके ज्ञाता दृष्टा अविनाशी आत्माको नहीं जानता है वह उत्कृष्ट तप तपते हुये भी निर्वाणको नहीं पाता है।

आत्मदर्शन ही मोक्षका कारण है।

अप्पादंसण इक्क परु अण्णु ण किं पि वियाणि।
मोक्खह कारण जोईया णिच्छइ एहउ जाणि॥१६॥

अन्वयार्थ—(जोईया) हे योगी! (इक्क अप्पादंसण मोक्खह कारण) एक आत्माका दर्शन ही मोक्षका मार्ग है (अण्णु

परु ण कि पि वियाणि) अन्य पर कुछ भी मोक्षमार्ग नहीं है ऐसा जान (णिच्छइ एहउ जाणि) निश्चयनयसे तू ऐसा ही समझ।

भावार्थ—निश्चयनयसे यथार्थ कथन होता है। अथवा इस नयसे उपादान कारणका वर्णन होता है। निश्चयनयसे मोक्षका मार्ग एक अपने आत्माका ही दर्शन है, इसके सिवाय कोई और मार्ग नहीं है। यदि कोई परके आश्रय वर्तन करे व उसीसे मोक्ष होना माने तो वह मिथ्यात्व है। मन वचन काय तीनों ही आत्मासे या आत्माके मूल स्वभावसे भिन्न है। आत्माका भिन्न स्वभाव सिद्धके समान है, जहां न मनके संकल्प विकल्प है न वचनका व्यापार है न कायकी चेष्टा है। व्यवहार धर्मका सर्व आचरण मन, वचन, कायके आधीन है इसलिये पराश्रय है। निमित्त कारण तो होसक्ता है परंतु उपादानका कारण नहीं होसक्ता है।

जो कुछ स्वाश्रय हो, आत्माके ही आधीन हो वही उपादान कारण है। जब उपयोग मात्र एक उपयोगके धनी आत्माकी झलक हो अभेद व सामान्य एक आत्मा ही देखने योग्य हो व आप ही देखनेवाला हो, कहनेको दृष्टा व दृश्य दो हों, निश्चयसे एक आत्मा ही हो। इस निर्विकल्प समाधिभावको या स्वानुभवको आत्मदर्शन कहते हैं। यह आत्मदर्शन एक गुप्त तत्व है, वचनसे अगोचर है, मनसे चिंतवन योग्य नहीं है, केवल आपसे ही अपनेको अनुभवने योग्य है।

आत्मा गुण पर्यायवान एक अखण्ड द्रव्य है। मनके द्वारा व वचनके द्वारा खंड रूप होजाता है, आत्माका पूर्णस्वरूप लक्ष्यमें नहीं आसक्ता। इसी लिये सर्व ही मनके विचारोंको छोडनेकी जरूरत है। जो कोई मौनसे स्वरूप गुप्त होगा वही आत्माके भीतर रमण कर जायगा। गुण गुणीके भेद करनेसे भी आत्माका स्वरूप

हाथमे नहीं आयगा। जितना कुछ व्यापार मन वचन कायका है उससे विमुख होकर जब आत्मा आत्मामे ही विश्राम करता है तब आत्मदर्शन होता है। वहांपर एक सहजज्ञान है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल ये ज्ञानके भेदोंका कोई विकल्प नही है।

साधकको पहले तो यह उचित है कि आत्माके स्वभावका व विभावका निश्चय शास्त्रोंके द्वारा कर डाले। आत्मा किस तरह कर्मोंको बाधना है, कर्मोंके उदयसे क्या २ अवस्था होती है, कर्मोंको कैसे रोका जावे, कर्मोंका क्षय कैसे हो, मोक्ष क्या वस्तु है, इस-तरह जीवादि सात तत्वोंका ज्ञान भलेप्रकार प्राप्त करना चाहिये। संशय रहित अपने आत्माकी कर्मरोगकी अवस्थाको जान लेना चाहिये। सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार जीवकाड कर्मकाडका ज्ञान आव-श्यक है। तथा व्यवहार चारित्रको भी जानना चाहिये। साधु व श्रावकके आचारका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। पश्चात् निश्चयसे आत्माके स्वभावका ज्ञान होनेके लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य रचित पचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसारको या नियमसारको, अष्टपा-हुडको समझकर निश्चय आत्मतत्वको जानना चाहिये कि यह मात्र अपनी ही शुद्ध परिणतिका कर्ता है व अपनी ही शुद्ध परिणतिका ही भोक्ता है। यह परम वीतराग व परमानन्द स्वभावका धारी है।

व्यवहार रत्नत्रयका ज्ञान मात्र निमित्त कारण होनेके लिये सहायकारी है, निश्चय तत्वका ज्ञान स्वानुभवके लिये हितकारी है। साधकको उचित है कि व्यवहार चारित्रके आधारसे जैनधर्मका आचार पाले। जिससे मन, वचन, कायका वर्तन हानिकारक न हो उनको वशमें रखा जासके फिर ध्यानका अभ्यास किया जावे। एकांतमे वैठकर आसन जमाकर पहले तो आत्माको द्रव्यार्थिक नयसे अभेदरूप विचारा जावे।

स्वरूपका मनन शास्त्रकी पद्धतिसे किया जावे। फिर प्रयत्न करके मननको बन्द करके मौनसे ही तिष्ठकर उपयोगको स्वभावके ज्ञान श्रद्धानमे एकाग्र किया जावे। निज आत्माकी झांकी की जावे। अभ्यास करनेवालेको पहले बहुत अल्प समय तक थिरता होगी। अभ्यास करते करते थिरता वढती जायगी। आत्मप्रभुका दर्शन अधिक समयतक होता रहेगा। जिस भावसे नवीन कर्मोंका संवर हो व पुराने संचित कर्मोंकी निर्जरा हो वही भाव एक मोक्षमार्ग हो सक्ता है। आत्माके दर्शनसे व आत्मानुभवमे ही वीतरागभावकी धारा वहती है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी एकता रहती है। वही संवर व निर्जरातत्व झलकते है। गृहस्थ हो या त्यागी हो उसे यदि निर्वाणके पदकी भावना है तो आत्माके दर्शन पानेका अभ्यास करना चाहिये।

जिसने आत्माका दर्शन पा लिया उसने ही सच्चा, वीतराग भगवानका दर्शन पाया, उसने ही सच्ची आराधना श्री अरहन्तदेव व सिद्ध परमात्माकी की। उसने ही श्रावक या साधुका व्रत पाला। वही सच्चा निर्वाणका पथिक है, यही आत्मदर्शन मोक्षमार्ग है। यह श्रद्धान जबतक नहीं है तबतक सम्यग्दर्शनका प्रकाश नहीं है, मिथ्यादर्शन है। आत्मदर्शन ही वास्तवमे सम्यग्दर्शन है।

समयसारमे कहा है—

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥ ३२० ॥

भावार्थ—भेदविज्ञानसे जो कुछ ग्रहण करनेयोग्य है वह मैं ही चेतनेवाला हूं, यही निश्चयतत्व है। शेष जितने भाव है वे मेरे स्वभावसे भिन्न हैं ऐसा जानकर उनको त्याग देना चाहिये। आपसे आपमे ही रमण करना चाहिये।

मोक्षपाहुडमे श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते है—

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥ १२ ॥
सद्दव्वरओ सवणो सम्माइट्ठी हवेइ सो साहू।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माइं ॥ १४ ॥
आदसहावादण्णं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवइ।
तं परदव्वं भणियं अवितत्थं सव्वदरसीहि ॥ १७ ॥
दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं।
सुद्धं जिणेहि कहियं अप्पाणं हवइ सद्दव्वं ॥ १८ ॥
जे झायंति सदव्वं परदव्वपरम्मुहा हु सुचरित्ता।
ते जिणवराण मग्गे अणुलग्गा लहदि णिव्वाणं ॥ १९ ॥

भावार्थ—जो कोई शरीरसे उदास हो, द्वन्द्व या रागद्वेषसे रहित हो, ममकारसे परे हो, सर्व लौकिक व धार्मिक आरंभसे रहित हो, केवल एक अपने आत्माके स्वभावमे भलेप्रकार लीन हो, वही योगी निर्वाणको पाता है। जो अपने ही आत्माके द्रव्यमे लीन है वही साधु या श्रावक सम्यग्दृष्टी है, वही दुष्ट आठों कर्मोंका क्षय करता है। अपने आत्माके स्वभावसे अन्य सर्व चेतन या अचेतन या मिश्र द्रव्य परद्रव्य है ऐसा यथार्थ कथन सर्वदर्शी भगवानने बताया है। दुष्ट आठों कर्मोंसे रहित, अनुपम ज्ञानशरीरी, नित्य, शुद्ध अपना आत्मा ही स्वद्रव्य है ऐसा जिनेन्द्रने कहा है। जो अपने आत्मद्रव्यको ध्याते है, परद्रव्योंसे उपयोगको हटाते हैं तथा सुन्दर चारित्रको पालते हैं व जिनेन्द्रके मार्गमें भलेप्रकार चलते हैं वे ही निर्वाणको पाते हैं।

समाधिशतकमे कहा है—

तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्त्यात्मानमात्मनि ।
यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ॥ ८२ ॥

भावार्थ—शरीरादिसे हटकर अपने आत्माके भीतर अपने आत्माको इसतरह ध्यावे कि स्वप्नमें भी कभी शरीरादिमें अपना मन नहीं जोड़े। सदा अपने आत्माको शुद्ध, परद्रव्यके सगसे रहित ध्यावे।

मार्गणा व गुणस्थान आत्मा नहीं है।

मग्गणगुणठाणइ कहिया ववहारेण वि दिट्ठि ।
णिच्छइणइं अप्पा मुणहु जिय पावहु परमेट्ठि ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ—(ववहारेण वि दिट्ठि) केवल व्यवहारनयकी दृष्टिसे ही (मग्गणगुणठाणइ कहिया) जीवको मार्गणा व गुणस्थानरूप कहा है (णिच्छइणइ) निश्चयनयसे (अप्पा मुणहु) अपने आत्माको आत्मारूप ही समझ (जिय परमेट्ठि पावहु) जिससे तू सिद्ध परमेष्टीके या अरहंत परमेष्टीके पदको पा सके।

भावार्थ—व्यवहारनय पराश्रित है। दूसरे द्रव्यकी अपेक्षासे आत्माको कुछका कुछ कहनेवाला है। निश्चयनय स्वाश्रित है। आत्माको यथार्थ जैसाका तैसा कहनेवाला है। निश्चयनयसे आत्मा स्वयं अरहन्त या सिद्ध परमात्मा है। आत्मा अभेद एक शुद्ध ज्ञायक है, जैसे सिद्ध भगवान हैं। अपनेको शुद्ध निश्चयनयसे शुद्धरूप ध्याना ही साक्षात् परमात्मा होनेका उपाय है, यही मोक्षमार्ग है क्योंकि जैसा ध्यावे वैसा ही हो जावे। समयसारमें कहा है—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि ॥ १७६ ॥

भावार्थ—शुद्ध आत्माको अनुभव करनेसे यह जीव शुद्ध आत्माको पालेता है या शुद्ध होजाता है। जो कोई अपने आत्माको अशुद्ध रूपसे ध्याता है उसको अशुद्ध आत्माका ही लाभ होता है वह कभी शुद्ध नहीं होसकता। इसलिये शुद्ध आत्मा है ऐसा वतानेवाला निश्चयनय है, सो ग्रहण करनेयोग्य है, व्यवहारनय ग्रहण करने योग्य नही है, केवल जाननेयोग्य है। आत्माका कर्मसे सयोग अनादिसे चला आरहा है। इस संयोगसे आत्माकी क्या २ अवस्थाएँ होसकती हैं उनका जानना इसलिये जरूरी है कि उनके साथ वैराग्य होजावे। उनको अपने आत्माकी स्वाभाविक अवस्था न मान लिया जावे। व्यवहार नय हीसे यह कहा जाता है कि यह आत्मा मार्गणा व गुणस्थानरूप है।

सांसारिक सर्व प्रकारकी अवस्थाओंका वहुतसा ज्ञान चौदह मार्गणाओंसे तथा चौदह गुणस्थानोंसे होता है।

श्री गोम्मटसार जीवकांडके अनुसार उनका स्वरूप पाठकोंके ज्ञान हेतु यहां दिया जाता है—

जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा।
ताओ चोद्दस जाणे सुयणाणे मग्गणा होंति ॥ १४१ ॥
गइइंदियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य।
संजमदंसणलेस्साभवियासम्मत्तसण्णिआहारे ॥ १४२ ॥

भावार्थ—जिन अवस्थाओंके द्वारा व जिन पर्यायोंसे जिसतरह जीव देखे जाते है वैसे ही ढ्रढ लिये जावे, जान लिये जायें, उन अवस्थाओको मार्गणा कहते है, ये मार्गणाए चौदह है—

१ गति, २ इन्द्रिय, ३ काय, ४ योग, ५ वेद, ६ कषाय, ७ ज्ञान, ८ सयम, ९ दर्शन, १० लेश्या, ११ भव्य, १२ सम्यक्त, १३ संज्ञी, १४ आहार।

प्रायः संसारी जीवोंमें ये चौदह दशाएं हर समय पाई जाती हैं या इनमें खोजनेसे हरएकमें संसारी जीव मिल जावेंगे। इनका स्वरूप व भेद ऐसा है—

१.—गति मार्गणा चार प्रकार—

गइउदयजपज्जाया चउगइगमणस्स हेउ वा हु गई।

णारयतिरिक्खमाणसदेवगइत्ति य हवे चदुधा ॥ १४६ ॥

भावार्थ—गति कर्मके उदयसे जो पर्याय होती है या चार गतियोंमे जानेका कारण जो उसे गति कहते है। वे चार है—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगति। हरएक संसारी जीव किसी न किसी गतिमे मिल जायगा। जब एक शरीरको छोडकर जीव दूसरे शरीरमे जाता है तब बीचसे विग्रहगतिके भीतर उसी गतिका उदय माना जायगा जिसमे जारहा है।

२—इन्द्रिय मार्गणा पांच प्रकार—

अहमिंदा जह देवा अविसेसं अहमहंत्ति मण्णंता।

ईसंति एक्कमेक्कं इंदा इव इन्दिये जाण ॥ १६४ ॥

भावार्थ—अहमिन्द्रोंके समान जो विना किसी विशेषके अपनेको भिन्न अहंकाररूप माने व जो इन्द्रोंके समान एक एक अपना भिन्न २ स्वामीपना रखे, एक दूसरेके साथी न हों, जो भिन्न२ काम करे उनको इन्द्रिय कहते है। वे पांच है—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र। इसीलिये ससारी जीव एकेन्द्रिय, द्वेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौन्द्रिय, व पचेन्द्रिय जीव कहलाते है। जिनके आगेकी इन्द्रिय होगी उनके पिछली अवश्य होगी। जिनके श्रोत्र होंगे उनके पिछली चार अवश्य होगी।

३--काय मार्गणा छह प्रकार—

जाईअविणाभावीतसथावरउदयजो हवे काओ।

सो जिणमदह्मि भणिओ पुढवीकायादिछब्भेयो ॥ १८१ ॥

भावार्थ—जाति कर्मके साथ अवश्यमेव रहनेवाले स्थावर तथा त्रस कर्मके उदयसे जो शरीर हो उसको काय कहते है, उसके छः भेद जिनमतमे कहे गए है—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्नि या तेज-काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, त्रसकाय, छहोकी शरीरकी रचनासे भेद है, इसलिये छः कायधारी जीव भिन्न२ होते है। मांसादि त्रस कायसे ही होता है, स्थावर शेप पाचमे नहीं। वनस्पतिकाय व त्रसकायकी रचनामे पृथ्वी आदि चार काय सहायक है।

४–योग मार्गणा पद्रह प्रकार—

पुग्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स।

जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥ २१६ ॥

भावार्थ—मन, वचन, काय तीन सहित या वचनकाय दो सहित या मात्र काय सहित जीवके भीतर पुद्गलविपाकी शरीर कर्मके उदयसे जो कर्म व नोकर्मवर्गणाओको ग्रहण करनेकी शक्ति है उस शक्तिको योग कहते हे। यह शक्ति जीवमे होती है परंतु इसका काम शरीर नामकर्मके उदयसे होता है। पंद्रह योगोमेसे किसीतक योगकी प्रवृत्ति होते हुए योगशक्ति हरसमय जहातक अयोग केवली जिन न हो वहांतक काम करती रहती है। विग्रहगतिमे कर्मवर्गणाओंको व तैजस वर्गणाओंको, शेप समय इन दोनोंके साथ साथ आहारक वर्गणाओंको, भापा वर्गणाओको (द्वेंद्रियादिके), मनोवर्गणाको (सैनीके) ग्रहण करती रहती है।

४ चार मनके—सत्य, असत्य, उभय, अनुभय (जिसे सत्य व असत्य कुछ नहीं कह सकते)।

४ चार वचनके—सत्य, असत्य, उभय, अनुभय।

७ सात कायके—औदारिक, औदारिक मिश्र (अपर्याप्तके) वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्र (अपर्याप्तके), आहारक, आहारक मिश्र, कार्मण–मनुष्य व. तिर्यंचोंके औदारिक दोनों, देवनारकियोंके वैक्रियिक दोनों, छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके आहारक दोनों, विग्रह-गतिमे कार्मण योग होते है तथा केवली समुद्घातमे भी तीन समय कार्मण योग होता है।

८ वेद मार्गणा ३ तीन प्रकार—

पुरुसिच्छिसंढवेदोदयेण पुरुसिच्छिसंढओ भावे।
णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहि विसमा ॥ २७० ॥
वेदस्सुदीरणाए परिणामस्स य हवेज्ज संमोहो।
संमोहेण ण जाणदि जीवो हु गुणं व दोसं वा ॥ २७१ ॥

भावार्थ—पुरुप वेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद, नोकषायके उदयसे जो क्रमसे पुरुप, स्त्री या नपुसक कैसे परिणाम होते है उनको **भाव वेद** कहते है तथा नामकर्मके उदयसे जो तीन प्रकारकी शरीर रचना होती है उसको **द्रव्यवेद** कहते है। प्रायः भाव वेद व द्रव्य वेद समान होते है, कही २ विसम होते है। देव, नारक व भोगभूमियोंमे जैसा द्रव्यवेद होता है वैसा ही भाववेद होता है। किंतु कर्मभूमिके मानव तथा पशुओंमे एक द्रव्य वेदके साथ तीनों ही प्रकारका भाववेद हो सक्ता है। मार्गणामे भाववेदकी मुख्यता है। पुरुप वेद, स्त्री वेद, नपुसक वेद, नोकपायकी उदीरणासे जीवके परिणाम मोहित या मूर्छित होजाते है तब यह मोही जीव गुण या दोषका विवेक नही रखता है। यह कायभाव अनर्थका कारण है।

(६) कषाय मार्गणा—पच्चीस प्रकार–

सुहदुक्खसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स ।
संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं वेंति ॥ २८१ ॥
सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे ।
घादंति वा कसाया चउसोलअसंखलोगमिदा ॥ २८२ ॥

भावार्थ—जीवके कर्मरूपी खेतको जो बेमर्याद ससार भ्रमण रूप है व जिसमे सुख दुःख रूपी बहुत धान्य पैदा होते है जो कसता है या हल चलाकर बोने योग्य करता है उसको कषाय कहते है । अथवा सम्यग्दर्शन व स्वरूपाचरणके घात करनेवाले अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ चार कषाय हैं, व देश सयमके घातक अप्रत्याख्यान क्रोधादि चार है, व सकल सयमके घातक प्रत्याख्यान क्रोधादि चार है, व यथाख्यात चारित्रके परिणामोको घात करनेवाले संज्वलन क्रोधादि चार व नौ नोकषाय (हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद, नपुसकवेद) ह, इसलिये उनको कषाय कहते हैं । इसके मूल चार या सोलह या पच्चीस आदि असंख्यात लोकप्रमाण भेद है ।

(७) ज्ञान मार्गणा आठ प्रकार—

जाणइ तिकालविसए दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे ।
पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाणेत्ति णं वेंति ॥ २९८ ॥

भावार्थ—जो भूत, भविष्य, वर्तमान, तीन काल सम्बधी सर्व द्रव्योंके गुणोंको व उनकी बहुत पर्यायोको एक काल जानता है उसको ज्ञान कहते है । मन व इन्द्रियोंके द्वारा जो जाने सो परोक्ष ज्ञान है । मति, श्रुत, कुमति, कुश्रुत, आत्मा स्वय जाने सो प्रत्यक्ष ज्ञान है । अवधि, कुअवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान, सम्यग्दर्शन सहित भाव सम्यग्ज्ञान है, मिथ्यादर्शन सहित तीन कुज्ञान है ।

(८) **संयम मार्गणा** सात प्रकार–

वदसमिदिकसायाणं दण्टाण तहिंदियाण पंचण्हं ।
धारणपालणणिग्गहचागजओ संजमो भणियो ॥ ४६४ ॥

भावार्थ—पांच व्रत धारना, पांच समिति पालना, पच्चीस कषायोंको रोकना, मन, वचन, काय तीन दण्डोंका त्याग करना व पांच इन्द्रियोंका जीतना, सो संयम कहा गया है। असंयम, देश-संयम, सामायिक छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म सांपराय, यथाख्यात, ये सात भेद हैं।

(९) **दर्शन मार्गणा** चार प्रकार—

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं ।
अविसेसिदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णदे समये ॥ ४८१ ॥

भावार्थ—जो पदार्थोंका सामान्य ग्रहण करना, उनका आकार न जानना, न पदार्थका विशेष समझना सो दर्शन आगममें कहा गया है।

चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल ये चार भेद है—

(१०) **लेश्या मार्गणा** छः प्रकार—

लिपइ अप्पीकीरइ एदीए णियअपुण्णपुण्णं च ।
जीवोत्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा ॥ ४८८ ॥
जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरञ्जिया होइ ।
तत्तो दोण्णं कज्जं बन्धचउक्कं समुद्दिट्ठं ॥ ४८९ ॥

भावार्थ—जिन परिणामोंके द्वारा जीव अपनेमे पुण्य तथा पापकर्मको लेपता है या ग्रहण करता है उनको लेश्या लेश्याके गुणोंके ज्ञायकोंने कहा है। कषायोंके उदयसे रंगी हुई योगोंकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते है। उससे पुण्य व पापका प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग चार प्रकारका बन्ध होता है।

कृष्ण, नील, कापोत, तीन अशुभ व पीत, पद्म, शुक्ल तीन शुभ लेश्याएं है।

(११) भव्य मार्गणा दो प्रकार—

भविया सिद्धी जेसि जीवाणं ते हवंति भवसिद्धा।
तव्विवरीया भव्वा संसारादो ण सिज्झंति ॥ ५५६ ॥

भावार्थ—जीन जीवोंमे सिद्ध होनेकी योग्यता है वे भव्य है। जिनमे यह योग्यता नहीं है वे अभव्य है।

(१२) सम्यक्त मार्गणा छः प्रकार—

छप्पञ्चणवविहाणं अत्थाण जिणवरोवइट्ठाणं।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ ५६० ॥

भावार्थ—छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, नव पदार्थौंका जैसा जिनेन्द्रने उपदेश किया है वैसा श्रद्धान आज्ञासे या प्रमाणनयके द्वारा होना सम्यक्त है। मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र उपशम, वेदक, क्षायिक ये छः भेद है।

(१३) संज्ञी मार्गणा दो प्रकार—

णोइन्दियआवरणखओपसम तज्जबोहणं सण्णा।
सा जस्स सो दु सण्णी इदरो सेसिदिअवबोहो ॥ ६५९ ॥
सिक्खाकिरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण।
जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीयो असण्णी दु ॥ ६६० ॥

भावार्थ—नो इंद्रिय जो मन उसको रोकनेवाले ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे जो बोध होता है उसको सज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा जिसको हो वह सज्ञी है। जो केवल इंद्रियोंसे ही जाने वह असज्ञी है। शिक्षा, क्रियाका उपदेश, वार्तालाप, सकेत वा जो मनके अलंबनसे

कर सके वह जीव संज्ञी है। जो इनको ग्रहण नही कर सके वह असंज्ञी है।

(१४) आहार मार्गणा दो प्रकार-

उदयावण्णसरीरोदयेण तद्देहवयणचित्ताणं।

णोकम्मवग्गणाणं गहणं आहारयं णाम ॥ ६६३ ॥

भावार्थ—उदय प्राप्त शरीरकर्मके उदयसे उस शरीर सम्बन्धी या भाषा या मन सम्बन्धी नो कर्मवर्गणाओंको जो ग्रहण करे वह **आहारक** है, जो नही ग्रहण करे वह अनाहारक है।

जेहि दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहि भावेहि।

जीवा ते गुणसण्णा णिद्दिट्ठा सव्वदरसीहि ॥ ८ ॥

भावार्थ—मोहनीय कर्मके उदय, उपशम, क्षयोपशम या क्षयके होनेपर सभव होनेवाले जिन भावोंमे जीव पहचाने जावे उनको सर्वज्ञने गुणस्थान कहा है। ये मोक्षमार्गकी चौदह सीढियां है। मोह व योगके सम्बंधसे होती है। उनको पार कर जीव सिद्ध होता है। एक समयमे एक जीवके एक गुणस्थान होता है।

मिच्छो सासण मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य।

विरदा पमत्त इदरो अपुव्व अणियट्ठ सुहुमो य ॥ ९ ॥

उवसंतखीणमोहो सजोगकेवलिजिणो अजोगी य।

चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा ॥ १० ॥

भावार्थ—१–मिथ्यात्व, २–सासादन, ३–मिश्र, ४–अविरक्त सम्यक्त, ५–देशविरत, ६–प्रमत्तविरत, ७–अप्रमत्तविरत, ८–अपूर्वकरण, ९–अनिवृत्तिकरण, १०–सूक्ष्मलोभ, ११–उपशांत मोह, १२–क्षीण मोह, १३–सयोग केवली जिन, १४–अयोग केवली जिन। इन चौदह गुणस्थानको पार करके सिद्ध होते है।

चौदह गुणस्थान स्वरूप—

(१) मिथ्यात गुणस्थान—

मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्दहणं तु तच्च अत्थाणं ।
एयंतं विवरीयं विणय संसयिदमण्णाणं ॥ १५ ॥

भावार्थ—मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे मिथ्यात्व भाव होता है तब तत्वोंका व पदार्थोंका श्रद्धान नहीं होता हे, उसके पांच भेद हैं। एकात (अनेक स्वभावोंमेसे एकको ही मानना), विपरीत, विनय, सशय, अज्ञान।

(२) सासादन गुणस्थान—

आदिमसम्मत्तद्धा समयादो छावलित्ति वा सेसे ।
अणअण्णदरुदयादो णासियसम्मोत्ति सासणक्खो सो ॥१९॥

भावार्थ—उपशम सम्यक्तके अंतर्मुहूर्त कालके भीतर जब एक समयसे लेकर छः आवली काल शेष रहे तब अनतानुबन्धी चार कषायोंमेसे किसी एकके उदयमे सम्यक्तसे छूट कर मिथ्यात्वकी तरफ गिरता है तब बीचमे सासादन भाव होता है।

(३) मिश्र गुणस्थान—

सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण ।
ण य सम्मं मिच्छंपि य सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥ २१ ॥

भावार्थ—जात्यतर सर्व घाति सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे न तो सम्यक्तके भाव होते हैं न मिथ्यात्वके, किन्तु दोनोंके मिले हुए परिणाम होते हैं।

(४) अविरत सम्यक्त गुणस्थान—

सत्तण्हं उवसमदो उवसमसम्मो खयादु खइओ य ।
विदियकसायुदयादो असंजदो होदि सम्मो य ॥ २६ ॥

भावार्थ—अनंतानुवन्धी चार कषाय व मिथ्यात्व, मिश्र, सम्यक्त प्रकृति इन सात कर्मोंके उपशमसे उपशम सम्यक्त व उनके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त व छहके उदय न होनेसे केवल सम्यक्तके उदयसे वेदक सम्यक्त इस गुणस्थानमे होता है, अप्रत्याख्यान कषायके उदयसे असंयम भी होता है।

(५) देशविरत—

पच्चक्खाणुदयादो संजमभावो ण होदि णवरि दु।
थोववदो होदि तदो देसवदो होदि पञ्चमओ ॥ ३० ॥

भावार्थ—प्रत्याख्यान कषायके उदयसे यहां संयम नहीं होता है, किन्तु कुछ या एकदेशव्रत होता है। इसलिये देशव्रत नामका पंचम गुणस्थान है।

(६) प्रमत्तविरत गुणस्थान—

संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा।
मलजणणपमादावि य तम्हा हु पमत्तविरदो सो ॥ ३२ ॥

भावार्थ - सज्वलन कषाय चार व नौ नोकषायके उदयसे संयम होता है परन्तु अतीचार उत्पन्न करनेवाला प्रमाद भी होता है इसलिये उसे प्रमत्तविरत कहते हैं।

(७) अप्रमत्तविरत गुणस्थान—

णट्ठासेसपमादो वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी।
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो ॥ ४६ ॥

भावार्थ—सर्व प्रमादोंसे रहित, व्रत, गुण, शीलसे मंडित, ज्ञानी, उपशम व क्षपकश्रेणीके नीचे ध्यानलीन साधु अप्रमत्तविरत है।

(८) अपूर्वकरण गुणस्थान—

अन्तो मुहुत्तकालं गमिऊण अधापवत्तकरणं तं।
पडिसमयं सुज्झंतो अपुव्वकरणं समल्लियइ ॥ ५० ॥

भावार्थ—सातवे गुणस्थानमे एक अन्तर्मुहूर्ततक अधःप्रवृत्तकरण समाप्त करके जब प्रति समय शुद्धि बढाता हुआ अपूर्व परिणामोंको पाता है तब अपूर्वकरण गुणस्थान नाम पाता है।

(९) अनिवृत्तिकरण गुणस्थान—

एकह्मि कालसमये संठाणादीहि जइ णिवट्टंति।
ण णिवट्टंति तहावि य परिणामेहि मिहो जे हु ॥ ५६ ॥
होंति अणियट्टिणो ते पडिसमयं जेस्सिमेक्कपरिणामो।
विमलयरझाणहुयवहसिहाहि णिद्दड्ढकम्मवणा ॥ ५७ ॥

भावार्थ—शरीरके आकारादिसे भिन्नता होनेपर भी जहां एक समयके परिणामोंमे परस्पर साधुओंके भिन्नता न हो व जिनके हरसमय एकसे ही परिणाम निर्मल बढते हुए हों वे अनिवृत्तिकरण गुणस्थानधारी साधु है, जो अति शुद्ध ध्यानकी अग्निकी शिखाओंसे कर्मके वनको जलाते है।

(१०) सूक्ष्मलोभ गुणस्थान—

अणुलोहं वेदंतो जीवो उवसामगो व खवगो वा।
सो सुहुमसंपराओ सहखादेणूणओ किंचि ॥ ६० ॥

भावार्थ—जो सूक्ष्मलोभके उदयको भोगनेवाला जीव उपशम या क्षपकश्रेणीमे हो वह सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानधारी है, जो यथाख्यात सयमीसे कुछ ही कम है।

(११) उपशांतमोह गुणस्थान—

कदकफलजुदजलं वा सरए सरवाणियं व णिम्मलयं।
सयलोवसन्तमोहो उवसन्तकसायओ होदि ॥ ६१ ॥

भावार्थ—कतकफल गेरे हुए जलके समान या शरद् कालमें निर्मल सरोवरके पानीके समान जब सर्व मोहकर्म उपशम हो तब वह साधु उपशांतकषाय नाम गुणस्थानधारी होता है।

(१२) क्षीणमोह गुणस्थान—

णिस्सेसखीणमोहो फलिहामलभावणुदयसमचित्तो ।
खीणकसाओ भण्णदि णिग्गंथो वीयरायेहिं ॥ ६२ ॥

भावार्थ—सर्व मोहको नाश करके जिसका भाव स्फटिकमणिके वर्तनमे रक्खे हुए जलके समान निर्मल हो वह निर्ग्रंथ साधु क्षीणकषाय है ऐसा वीतराग भगवानने कहा है।

(१३) सयोगकेवलीजिन गुणस्थान—

केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासियण्णाणो ।
णवकेवलल्द्धुग्गमसुजणियपरमप्पववएसो ॥ ६३ ॥
असहायणाणदंसणसहिणो इदि केवली हु जोगेण ।
जुत्तोत्ति सजोगिजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो ॥ ६४ ॥

भावार्थ—जिसने केवलज्ञान रूपी सूर्यकी किरणोंसे अज्ञानका नाश कर दिया है व नौ केवललब्धिके प्रकाशसे परमात्मा पद पाया है व जो सहाय रहित केवलज्ञान केवल दर्शन सहित केवली है व योग सहित है उनको अनादि निधन आगममे सयोग केवली जिन कहा है। अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत दान, अनंत लाभ, अनंत भोग, अनंत उपभोग, अनंत वीर्य, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र ये नौ केवल लब्धियां है।

(१४) अयोगकेवलि जिन गुणस्थान—

सीलेसिं संपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो ।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥ ६५ ॥

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया ।
गुणठाणन्ताभावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥ ६१ ॥

भावार्थ–वर्णादि, मार्गणा, गुणस्थानादि सर्व भाव व्यवहारनयसे जीवके कहे गए है। निश्चयनयसे ये कोई जीवके नहीं है। यह तो परम शुद्ध है।

गृहस्थी भी निर्वाणमार्गपर चलसक्ता है।

गिहिवावार परट्ठिआ हेयाहेउ मुणंति ।
अणुदिणु झायहि देउ जिणु लहु णिव्वाणु लहंति ॥१८॥

अन्वयार्थ--(**गिहिवावार परट्ठिया**) जो गृहस्थके व्यापारमें लगे हुए है (**हेयाहेउ मुणंति**) तथा हेय उपादेयको त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्यको जानते हैं (**अणुदिणु जिणु देउ झायहि**) तथा रात दिन जिनेन्द्र देवका ध्यान करते है (**लहु णिव्वाणु लहंति**) वे भी शीघ्र निर्वाणको पाते है।

भावार्थ—निर्वाणका उपाय हरएक भव्यजीव करसक्ता है। यहां यह कहा है कि गृहस्थके व्यापार धधेमे उलझा हुआ मानव भी निर्वाणका साधन करसक्ता है। यह बात समझनी चाहिये कि निर्वाण आत्माका शुद्ध स्वभाव है, वह तो यह आप है ही उस पर जो कर्मका आवरण है उसको दूर करना है। उसका भी साधन एक मात्र अपने ही शुद्ध आत्मीक स्वभावका दर्शन या मनन है। निर्वाणका मार्ग भी अपने पास ही है।

सम्यग्दृष्टी अन्तरात्माके भीतर भेद विज्ञानकी कला प्रगट हो जाती है, जिसके प्रभावसे वह सदा ही अपने आत्माको सर्व कर्मजालसे निराला वीतराग विज्ञानमय शुद्ध सिद्धके समान श्रद्धान

करता है, जानता है तथा उसका आचरण भी करसक्ता है। जिसकी रुचि होजाती है उसतरफ चित्त स्वयंनेव स्थिर होजाता है। आत्म-स्थिरता भी करनेकी योग्यता अविरत सम्यक्ती गृहस्थको होजाती है। वह जब चाहे तब सिद्धके समान अपने आत्माका दर्शन कर सक्ता है।

आत्मदर्शन गृहस्थ तथा साधु दोनों ही कर सक्ते हैं। गृहस्थ अन्य कार्योंकी चिन्ताके कारण बहुत थोड़ी देर आत्मदर्शनके कार्यमें समय देसक्ता है जब कि साधु गृही कार्यसे निवृत्त है। उस साधुको गृह सम्बन्धी अनेक कार्योंकी कोई फिकर नहीं है, इस लिये वह निरन्तर आत्मदर्शन कर सक्ता है। निर्वाणका साक्षात् साधन साधुपदमें ही होसक्ता है, गृहस्थमें एकदेश साधन होसक्ता है।

हरएक तत्वज्ञानी अन्तरात्मा गृहस्थको चार पुरुषार्थोंका साधन आवश्यक है। मोक्ष या निर्वाणके पुरुषार्थको ध्येयरूप या सिद्ध करने योग्य मानके निर्वाण प्राप्तिका लक्ष्य रखके अन्य तीन पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, कामका साधन गृहस्थ करता है। तीनोंमें विरोध न पहुंचे इसतरह तीनोंकी एकता पूर्वक कार्य करता है। इतना धर्मका भी साधन नहीं करता है जो द्रव्यको न पैदा कर सके व शरीरसे इंद्रिय भोग न कर सके। इतना द्रव्य कमानेमें भी नहीं लगता है जो धर्मको साधन न कर सके व शरीरको रोगी बनाले जिससे काम पुरुषार्थ न कर सके। इतना इंद्रिय भोग नहीं करता है जिससे धर्म-साधनमें हानि पहुंचे व द्रव्यका लाभ न कर सके।

अर्थ पुरुषार्थके लिये वह अपनी योग्यताके अनुसार नीचे लिखे छ कर्म करता है व इनमें सहायक होता है—

(१) असिकर्म—रक्षाका उपाय शस्त्र धारण करके रक्षाका काम।

(२) मसिकर्म—हिसाब किताब जमाखर्च व पत्रादि लिखनेका काम।

(३) कृषिकर्म—खेती करने व करानेका व प्रबन्ध करनेकी व्यवस्था ।

(४) वाणिज्यकर्म—देश परदेशमे मालका क्रय विक्रय करना ।

(५) शिल्पकर्म—नाना प्रकारके उद्योगोंसे आवश्यक वस्तुओंको बनाना ।

(६) विद्याकर्म—गाना, बजाना, नृत्य, चित्रकारी आदिके हुनर ।

काम पुरुषार्थमे वह न्यायपूर्वक व धर्मका खण्डन न करते हुए पाचों इन्द्रियोंके भोग भोगता है । स्पर्शन इन्द्रियके भोगमे अपनी विवाहिता स्त्रीमे सन्तोष रखता है, रसना इन्द्रियके भोगमे शुद्ध व स्वास्थ्यवर्धक भोजनपान ग्रहण करता है, घ्राण इन्द्रियके भोगमे शरीररक्षक सुगन्ध लेता है, चक्षु इन्द्रियके भोगमे उपयोगी ग्रन्थोका व वस्तुओंका अवलोकन करता है, कर्ण इन्द्रियके भोगमे उपयोगी गानादि सुनता है ।

धर्म पुरुषार्थमे वह गृहस्थ नित्य छः कर्मोंका साधन करता हैः—

देवपूजा गुरूपास्ति स्वाध्याय सयमस्तप ।
दानं चेति गृहस्थाणा षट्कर्माणि दिने दिने ॥

(पद्मनंदि श्रावकाचार)

(१) देवपूजा —अरहन्त व सिद्ध परमात्मा—जिनेन्द्रकी भक्ति करना । उसके छः प्रकार है—१—नाम लेकर गुण स्मरण नाम भक्ति है । २—स्थापना या मूर्ति द्वारा पूजन, दर्शन व जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल इन आठ द्रव्योंमे पूजन स्थापना भक्ति है । ३—अरहन्त व सिद्धके स्वरूपका विचार द्रव्य भक्ति है । ४—अरहन्त व सिद्धके भावोंका मनन भाव भक्ति है । ५—जिन स्थानोंसे महान पुरुषोने जन्म, तप, ज्ञान, निर्वाणको पाया इन

सभीके द्वारा गुण स्मरण क्षेत्र भक्ति है। ६-जिन समयोंमें जन्म, तप, ज्ञान व निर्वाण पाया उन कालोंको ध्यानमें लेकर गुण स्मरण काल भक्ति है। छः प्रकारसे देवपूजा होती है। यथासम्भव नित्य करे।

(२) गुरु भक्ति—आचार्य, उपाध्याय, साधुकी विनय, सेवा, उनसे उपदेश ग्रहण यदि प्रत्यक्ष न हो तो परोक्ष उनकी शिक्षाको मान्य रखना गुरुसेवा है।

(३) स्वाध्याय—तत्वज्ञान पूर्ण अध्यात्मिक शास्त्रोंको पढना व सुनना व विचारना।

(४) संयम—नियमित आहारादि करना, स्वच्छंद वर्तन न करना।

(५) तप—प्रातःकाल व सध्याकाल कुछ देर तक आत्मध्यानका अभ्यास करना, सामायिक पाठ पढना, आत्माका स्वरूप विचारना।

(६ दान—भक्तिपूर्वक धर्मात्मा मुनि, आर्यिका, श्रावक श्राविकाको व दयाभावसे प्राणी मात्रको आहार, औषधि, अभय व ज्ञान दान देना। तथा आठ मूलगुणोंको पालना। ये मूलगुण भिन्न भिन्न आचार्योंके मतसे नीचे प्रकार हैं:—

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकम्।

अष्टौ मूलगुणानाहु. गृहिणां श्रमणोत्तमा॰ ॥ ६६ ॥ (रत्न० श्रा०)

भावार्थ—१—मदिरा नहीं पीना, २—मांस नहीं खाना, ३—मधु नहीं खाना, क्योंकि मक्खियोंका घातक है व हिंसाकारक है। इन तीन मकारोंको नहीं सेवना, तथा पांच अणुव्रतोंको पालना।

(१) अहिंसा अणुव्रत—संकल्पी हिंसा नहीं करना। जैसे शिकारको मांसाहारके लिये धर्मार्थ पशुवध, वृथा मौजशौकसे प्राणी

पीड़ा पाकना आदि, आरम्भी हिंसा जो अर्थ व काम पुरुषार्थके साधकमें आवश्यक है उसको यह सामान्य गृहस्थी त्याग नहीं कर सक्ता है. वृथा आरम्भी भी नहीं करता है।

(२) सत्य अणुव्रत—सत्य बोलता है पर पीड़ाकारी वचन नहीं बोलता है। कटुक निन्दनीय भाषा नहीं बोलता है। आरम्भसाधक वचनोंको त्याग नहीं कर सक्ता।

(३) अचौर्य अणुव्रत—गिरी पड़ी व भूली हुई किसीकी वस्तु नहीं ग्रहण करता है। चोरी, ठगपना, विश्वासघातसे बचता है।

(४) ब्रह्मचर्य अणुव्रत—स्वस्त्रीमें सन्तोष रखके वीर्यकी रक्षा करता है।

(५) परिग्रह त्याग अणुव्रत—तृष्णाके घटानेके लिये सम्पत्तिका प्रमाण कर लेता है। उतनी मर्यादा पूर्ण होनेपर परोपकार व धर्ममें जीवन बिताता है।

यह गृहस्थी इस वाक्यपर ध्यान रखता है—

सर्वमेव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्॥

भावार्थ—जैन गृहस्थ उन सर्व लौकिक नियमोंको मान्य कर लेगा कि जिनसे अपनी श्रद्धामें व पांच अणुव्रतोंमें बाधा नहीं आवे। सामाजिक नियमोंका परिवर्तन उस आधारपर कर सक्ता है।

श्री जिनसेनाचार्य महापुराणमें कहते हैं—

हिंसाऽसत्यास्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणोऽष्टमूलगुणा ॥

भावार्थ—स्थूल हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म परिग्रहका त्याग तथा जुआ नहीं खेलना, मांस नहीं खाना, मदिरा नहीं पीना, ये

पण्डित आशाधर सागारधर्मामृतमें कहते है—

मद्यपलमधुनिशाशनपञ्चफलीविरतिपञ्चकाप्तनुती ।

जीवदया जलगालनमिति च क्वचिदष्टमूलगुणा. ॥ १८२॥

भावार्थ—ये भी आठ मूलगुण है-(१) मदिरा त्याग, (२) मांस त्याग, (३) मधु त्याग, (४) रात्रिभोजन त्याग. (५) पांच फल गूलर, पाकर, वड, पीपल, कठूमर, अंजीर त्याग, (६) पांच परमेष्ठी भक्ति, (७) जीव दया, (८) जल छानकर पीना।

पुरुषार्थसिद्धयुपायमे कहा है—

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन ।

हिंसाव्युपरतकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥ ६१ ॥

भावार्थ—हिंसासे बचनेवालेको प्रथम ही मदिरा, मांस, मधुको त्यागना व ऊपर कहे पाच फल न खाने चाहिये।

आत्मज्ञानी गृहस्थ जिनेन्द्रका व अपने आत्माका स्वभाव एक समान जानता है इसलिये निरन्तर जिनेन्द्रके ध्यानसे वह अपना ही ध्यान करता है। गृहस्थ सम्यग्दृष्टी आत्माके चितवनको परम रुचिसे करता है। शेप कामोंको कर्मोंके उदयवश लाचार होकर करता है। उस गृहस्थके ज्ञानचेतनाकी मुख्यता है। गृहस्थके रागद्वेषपूर्वक कामोमे व कर्मफलभोगमे भीतरमे समभाव है। भावना यह रखता है कि कब कर्मका उदय टले जो मैं गृह प्रपंचसे छूटूं।

समाधिशतकमे कहा है—

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।

कुर्यादर्थवशात् किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्पर ॥ ५० ॥

भावार्थ—ज्ञानी सम्यग्दृष्टी आत्मज्ञानके सिवाय अन्य कार्यको बुद्धिमें देरतक नहीं धारता है। प्रयोजनवश कुछ काम कहना हो

उसमें आसक्त न होकर वचन व कायसे कर लेता है।

समयसार कलशमे कहा है—

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फल विषयसेवनस्य ना।
ज्ञानवैभवविरागताबलात्सेवकोऽपि तदसावसेवक ॥ ३–७ ॥

भावार्थ—ज्ञानी विषयोंको सेवन करते हुए भी विषय सेवनके फलको नही भोगता है। वह तत्वज्ञानकी विभूति व वैराग्यके बलसे सेवते हुए भी सेवनेवाला नहीं है। समभावसे कर्मका फल भोगनेपर कर्मकी निर्जरा बहुत होती है, बन्ध अल्प होता है, इसलिये सम्यग्दृष्टी गृहस्थ निर्वाणका पथिक होकर ससार घटाता है। उसकी दृष्टि स्वतन्त्रतापर रहती है, ससारसे उदासीन है, प्रयोजनके अनुकूल अर्थ व काम पुरुषार्थ साधता है व व्यवहार धर्म पालता है, परन्तु उन सबसे वैरागी है। प्रेमी मात्र एक अपने आत्मानुभवका है, इससे वह शीघ्र ही निर्वाणको पानेकी योग्यताको बढा लेता है।

जिनेन्द्रका स्मरण परम पदका कारण है।

जिण सुमिरहु जिण चिंतवहु जिण झायहु सुमणेण।
सो झाहंतह परमपउ लब्भइ एक्कखणेण ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ—(सुमणेण) शुद्धभावसे (जिण सुमिरहु) जिनेन्द्रका स्मरण करो (जिण चिंतवहु) जिनेन्द्रका चितवन करो (जिण झायहु) जिनेन्द्रका ध्यान करो (सो झाहंतह) ऐसा ध्यान करनेसे (एक्कखणेण) एक क्षणसे (परमपउ लब्भइ) परमपद प्राप्त होजाता है।

भावार्थ—जिनेन्द्रके स्वभावसे व अपने आत्माके मूल स्वभावमे कोई प्रकारका अन्तर नही ह। सम्यग्दृष्टी अन्तरात्मा आत्माके

उत्कृष्ट पदका परमप्रेमी होजाता है। उसके भीतर यह अनुकम्पा पैदा होजाती है कि जिनके समान होते हुए भी इसे भवभवमें जन्म मरणके कष्ट सहने पडे यह बात ठीक नहीं है। इसे तो जिनके समान स्वतंत्र व पूर्ण व पवित्र बना देना चाहिये। यह पर्यायकी अपेक्षा अपने आत्माको अशुद्ध रागी द्वेषी, अज्ञानी, कर्मबद्ध, शरीरमें कैद पाता है व श्री जिनेन्द्र भगवानको शुद्ध वीतरागी, ज्ञानी, कर्ममुक्त व शरीरसे रहित देखता है तब गाढ प्रेमालु व उत्साहित होजाता है कि शुद्ध पदमें अपने आत्माको शीघ्र पहुंचा देना चाहिये। वह जिन पदको आदर्श या शुद्धताका नमूना मानके हरसमय उसको धारणामें रखता है।

गृहस्थीके काम व आहार विहारादि करते हुये भी बार बार जिनदेवको स्मरण करता है। कभी देवपूजादि व सामायिकके समय जिनपदके स्वरूपका-जिनकी गुणावलीका चिन्तवन करता है। चिन्तवन करते करते क्षणमात्रके लिये स्थिर होता है। आपको जिन भगवानके स्वरूपमें जोड देता है। दोनोंको एकी भावमें कर देता है। अर्हन्तके शुद्ध भावमें एकतान होजाता है तब वास्तवमें उसी क्षण आत्माका साक्षात्कार पाकर निर्वाणकासा आनन्द अनुभव करता है। ध्यानमें थिरता कम होने पर फिर ध्यानसे छूटकर चिन्तवन करने लगता है। फिर ध्यानको पालेता है। फिर आनंदका अमृत पीने लगता है। इसतरह जिन समान अपने आत्माका ध्यान ही परमपदके निकट लेजानेका वाहन होजाता है। यदि कोई साधु वज्र-वृषभनाराच संहननका धारी ध्यानारूढ एक मुहूर्त या ४८ मिनटसे कुछ कम समयतक ध्यानमें एकतान होजावे तो चारों घातीय कर्मोंका क्षय करके अर्हन्त परमात्मा होजावे। फिर उस शरीरके पीछे शरीर-रहित सिद्ध होजावे।

मुझे अपने आत्माके शुद्ध स्वभावमें या जिनपरमात्मामे कोई संशय नही है, न मुझे मरणका रोगादिका व किसी अकस्मात्‌का भय है। मेरा आत्मा अमूर्तीक अभेद्य अछेद्य अविनाशी है। इसका कोई बिगाड कर नही सक्ता है। इसतरह स्वरूपसे निशक व निर्भय होकर **निःशंकित** अग पालता है। इस ज्ञानीको कर्मोंके आधीन क्षणिक, तृष्णावर्द्धक, पापबन्धकारी इद्रिय सुखोंकी रचमात्र लालसा या आसक्ति नही होती है। यह पूर्णपने वैरागी है। केवल अपने अतीन्द्रिय आनन्दका प्यासा है। उस परमानन्दके सिवाय किसी प्रकारके अन्य सुखकी व स्वानुभवके सिवाय अन्य किसी व्यवहार धर्मकी या मोक्षपदके निज पदके सिवाय अन्य किसी पदकी वाछा नही रखना है। वे चाह तो शुद्ध भाव रखता हुआ **निष्कांक्षित** अङ्गको पालता है। ज्ञानी छः द्रव्योंको व उनके गुणोंके व उनकी होनेवाली स्वाभाविक व वैभाविक पर्यायोंको पहचानता है। सर्व ही जगतकी व्यवस्थाको नाटकके समान देखता है। किसीको बुरी व भली माननेका विचार न करके घृणाभावकी कालिमासे दूर रहकर व समभावकी भूमिमे तिष्टकर **निर्विचिकित्सित** अङ्गको पालता है।

वस्तु स्वरूपको ठीक ठीक जाननेवाला ज्ञानी जैसे अपने आत्माको द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नयसे एक व अनेकरूप देखता है वैसे अन्य जगतकी आत्माओंको देखता है, वह किसी बातमे मूढ़भाव नही रखता है। वह धर्म, अधर्म, आकाश, काल चार द्रव्योंको स्वभावमे सदा परिणमन करते हुए देखता है। पुद्गलकी स्वाभाविक व वैभाविक पर्यायोंको पुद्गलकी मानता है। जीवकी स्वाभाविक व वैभाविक नैमित्तिक पर्यायोंको जीवकी जानता है। उपादेय एक अपने शुद्ध द्रव्यको ही जानता है। इसतरह ज्ञानी [illegible] अंग पालता है। ज्ञानी

सर्व रागादि दोषोंसे परे रहकर व कषायके मैलको मैल समझकर उनसे रहित अपने वीतराग स्वभावके अनुभवमे जमकर अपने भीतर अनन्त शुद्ध गुणोंको प्रकाश करता है, दोषोंसे उपयोग हटाकर आत्मीक गुणोंमे अपनेको झलकाता हुआ उपगूहन या उपबृंहन अंगको पालता है।

ज्ञानी जानता है कि रागद्वेषोंकी पवन लगनेसे मेरा आत्मीक समुद्र चंचल होगा। इसलिये वीतरागभावमें स्थिर होकर व ज्ञान चेतनामय होकर आत्मानदके स्वादमे तन्मय हो स्थितिकरण अङ्गको पालता है। अपने उपयोगकी आत्माको भूमिमे रमनेसे बाहर नहीं जाने देता है। ज्ञानी जीव सर्व जगतकी आत्माओंको एकसमान शुद्ध व परमानन्दमय देखकर परम शुद्ध प्रेमसे भरकर ऐसा प्रेमालु होजाता है कि सर्व विश्वको एक शांतिमय समुद्र बनाकर उस समुद्रमे गोते लगाता है। शुद्ध विश्व-प्रेमको रखकर वात्सल्य अङ्ग पालता है। वह ज्ञानी अपने निर्मल उपयोगरूपी रथमे परमात्माको विराजमान करके ध्यानके मार्गमे रथको चलाकर अपने आत्माकी परम शात महिमाको विस्तार करके प्रभावना अङ्ग पालता है। इस तरह आठ अगोसे विभूषित ज्ञानी शुद्ध भावसे श्री जिनेन्द्रका स्मरण, चिन्तवन व ध्यान करता हुआ निर्वाणके अचल नगरको प्रयाण करता है। समाधिशतकमे कहा है—

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः ।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥ ९७ ॥

भावार्थ—जैसे बत्ती दीपकसे भिन्न है तौभी दीपककी सेवा करके स्वय दीपक होजाती है वैसे यह भिन्न परमात्माकी उपासना करके स्वयं परमात्मा हो जाता है।

भावपाहुडमे श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते है—

णाणम्मविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण ।

बाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति ॥ १२५ ॥

भावार्थ—भव्यजीव शुद्धभावसे ज्ञानमई निर्मल शीतल जलको पीकर व्याधि, जरा, मरणकी वेदनाकी दाहसे छूट कर शिवरूप मुक्त होजाते है। आप्तस्वरूपमें कहा है कि—

रागद्वेषादयो येन जिताः कर्ममहाभटा ।

कालचक्रविनिर्मुक्त. स जिन परिकीर्तितः ॥२१॥

भावार्थ—जिसने रागद्वेषादिको व कर्मरूपी महान क्रीडाओंको जीता है व जो मरणके चक्रसे रहित है वही जिन कहा गया है।

अपनी आत्मामें व जिनेन्द्रमें भेद नहीं।

सुद्धप्पा अरु जिणवरहं भेउ म किमपि वियाणि ।

मोक्खह कारण जोईया णिच्छइ एउ वियाणि ॥२०॥

अन्वयार्थ—(जोईया) हे योगी! (सुद्धप्पा अरु जिणवरहं किमपि भेउ म वियाणि) अपने शुद्धात्मामे और जिनेन्द्रमे कोई भी भेद मत समझो (मोक्खह कारण णिच्छइ एउ वियाणि) मोक्षका साधन निश्चयनयसे यही मानो।

भावार्थ—मोक्ष केवल एक अपने ही आत्माकी परके संयोगरहित शुद्ध अवस्थाका नाम है। तब उसका उपाय भी निश्चयनयसे या पर्यायमे यही है कि अपने आत्माको शुद्ध अनुभव किया जावे तथा श्री जिनेन्द्र अरहंत या सिद्ध परमात्माके समान ही अपनेको माना जावे।

मैं भी आठों मदोंसे रहित पूर्ण निरभिमानी व परम कोमल मार्दव भावका धनी हूं। सिद्ध भगवान मायाचारकी वक्रतासे रहित परम सरल सहज आर्जव गुण धारी है, मैं भी कपट–जालसे शून्य परम निष्कपट सरल आर्जव स्वभाव धारी हूं।

सिद्ध भगवान् असत्यकी वक्रतासे रहित परम सत्य अमिट एक स्वभावधारी है। मैं भी सर्व असत्य कल्पनाओंसे रहित परम-पवित्र सत्य शुद्ध धर्मका धनी हूं। सिद्ध भगवान लोभके मलसे रहित परमपवित्र शौच गुणके धारी है, मैं भी सर्व लालसासे शून्य परम सन्तोषी व परम शुद्ध शौच स्वभावका स्वामी हूं। सिद्ध भगवान् मन व इन्द्रियोंके प्रपंचसे व अदयाभावसे रहित पूर्ण संयम धर्मके धारी है, मैं भी मन व इन्द्रियोंकी चञ्चलतासे रहित व परमस्वदयासे पूर्ण परम संयम गुणका धारी हूं। सिद्ध भगवान आपसे ही अपनी स्वानुभूतिकी तपस्याको निरंतर तपते हुए परम तप धर्मके धारी है। मैं भी स्वात्माभिमुख होकर अपनी ही स्वात्मरमणताकी अग्निमें निरन्तर आपको तपाता हुआ परम इच्छा रहित तप गुणका स्वामी हूं। सिद्ध भगवान् परम शांतभावसे पूर्ण होते हुए व परम निर्भयताको धारते हुए विश्वमें परम शाँति व अभय दानको विस्तारते हुए परम त्याग धर्मके धारी है। मैं भी सर्व विश्वमें चन्द्रमाके समान परम शांत अमृत वर्षाता हुआ व सर्व जीवमात्रको अभय करता हूं, परम त्याग गुणका स्वामी हूं।

सिद्ध भगवान एकाकी निस्पृह निरंजन रहते हुए परम आकिंचन्य धर्मके धारी है, मैं भी परम एकांत स्वभावमें रहता हुआ व परके संयोगसे रहित परम आकिंचन्य गुणका स्वामी हूं। सिद्ध भगवान् परमशील स्वभावमें व अपने ही ब्रह्मभावमें रमण करते हुए परम ब्रह्मचर्य धर्मके धारी है। मैं भी अपने ही शुद्ध शील स्वभावमें

निर्विकारतासे स्थिर होता हुआ व ब्रह्मभावका भोग करता हुआ परम ब्रह्मचर्य गुणका स्वामी हूं। सत्ताधारी होते हुए भी स्वभावकी व गुणोंकी अपेक्षा मेरे आत्माकी व सिद्ध परमात्माकी पूर्ण एकता है। जो वह सो मैं, जो मैं सो वह, इस तरह जो योगी निरन्तर अनुभव करता है वही मोक्षका साधक होता है।

परमात्मप्रकाशमे कहा है—

जेहउ णिम्मलु णाणमउ, सिद्धिहि णिवसइ देउ।
तेहउ णिवसइ बंभुपरु, देहहं मंकरि भेउ॥ २६॥

भावार्थ—जैसा निर्मल ज्ञानमय परमात्मादेव सिद्ध गतिमें निवास करते है, परमब्रह्म परमात्मा इस अपने शरीरमें निवास करता है, कुछ भेद न जाने। बृहद् सामायिकपाठमे कहते है—

गौरो रूपधरो दृढ परिदृढ स्थूल: कृश· कर्कशो।
गीर्वाणो मनुज· पशुर्नरकभृ. पंढ: पुमानंगना॥
मिथ्यात्त्वं विदधासि कल्पनमिदं मूढोऽविबुध्यात्मनो।
नित्यं ज्ञानमयस्वभावममलं सर्वव्यपायच्युतं॥ ७०॥

भावार्थ—हे मूढ प्राणी! तू अपने आत्माको नित्य, ज्ञानमय स्वभावी, निर्मल व सर्व आपत्तियोंसे व नाशसे रहित नहीं जानके ऐसी मिथ्या कल्पना करता रहता है कि मै गोरा हूं, रूपवान हूं, बलिष्ट हूं, निबल हूं, मोटा हूं, पतला हूं, कठोर हूं, मै देव हू, मनुष्य हूं, पशु हूं, नारकी हूं, नपुंसक हूं, पुरुप हूं, व स्त्री हूं।

मोक्षपाहुड़में कहा है—

जो इच्छइ णिस्सरिदुं संसारमहण्णवाउ रुद्दाओ।
कम्मिधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं॥ २६॥

भावार्थ—जो जीव भयानक संसार-समुद्रसे निकलना चाहता है तो वह शुद्धात्माको ध्यावे। उसीसे कर्म इंधन भस्म होगा।

आत्मा ही जिन है, यही सिद्धांतका सार है।

जो जिणु सो अप्पा मुणहु इह सिद्धंतहु सारु।
इउ जाणेविण जोयइहु छंडहु मायाचारु ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ—(जो जिणु सो अप्पा मुणहु) जो जिनेन्द्र है वही यह आत्मा है ऐसा मनन करो (इह सिद्धंतहु सारु) यही सिद्धातका सार ह। (इउ जाणेविण) ऐसा जानकर (जोयइहु) हे योगीजनो ! (मायाचारु छंडहु) मायाचार छोडो।

भावार्थ—तीर्थकरोके द्वारा जो दिव्यध्वनि प्रगट होती है वही सिद्धातका मूल श्रोत है। उस वाणीको गणधरादि मुनि धारणामे लेकर द्वादशागकी रचना करते है, फिर उसीके अनुसार अन्य आचार्य ग्रथ रचते है। उन ग्रथोंका विभाग चार अनुयोगोंमे किया गया है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग इन चारों हीके पढनेका सार इतना ही हे जो अपने आत्माको परमात्माके समान समझ लिया जावे।

श्री रत्नकरंड श्रावकाचारमें स्वामी समन्तभद्र कहते है—

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीन ॥ ४३ ॥

भावार्थ—प्रथमानुयोग उसको कहते है जिसमे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुपार्थोंका कथन हो, महापुरुषोंके जीवनचरित्र हों, चौवीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण, नौ बलभद्र ऐसे त्रेशठशलाका पुरुषोंके चरित्र हों, जिसके पढनेसे

पुण्यका वध हो, जो रत्नत्रयकी प्राप्ति व समाधिका भंडार हो, जो सम्यग्ज्ञानका प्रदर्शक हो। निश्चय रत्नत्रय व समाधि अपने ही शुद्धात्माको परमात्मा रूप निश्चय करनेसे होती है। प्रथमानुयोगमें दृष्टांतोंके द्वारा बताया है कि जिन्होंने अपनेको शुद्ध समझके पूर्ण वैरागी होकर आत्मध्यान किया था वे ही निर्वाणको पहुंचे है। इसलिये यह अनुयोग भी आत्मतत्त्वके झलकानेवाला है।

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च ।

आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगं च ॥ ४४ ॥

भावार्थ—करणानुयोगमें लोक अलोकके विभागका, कालके गुणोंके पलटनेका व चारों गतियोंकी भिन्न भिन्न जीवोंकी अवस्थाओंका, मार्गणा व गुणस्थानोंका दर्पणके समान ठीक २ वर्णन है—जिससे सम्यग्ज्ञानका प्रकाश होता है। कर्मोंके सयोगसे सांसारिक अवस्था व विभाव परिणतियां किसतरह होती है उन सबका सूक्ष्म कथन करके यह झलकाया है कि जहांतक कर्मोका सयोग नहीं छूटेगा भवभ्रमण नहीं हटेगा व आत्मा तो स्वभावसे कर्मरहित शुद्ध है।

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम् ।

चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥ ४५ ॥

भावार्थ—जिससे गृहस्थी व साधुओंके चारित्रकी प्राप्ति वृद्धि व रक्षाका उपाय बताया हो व जो सम्यग्ज्ञानको प्रगट करे वह चरणानुयोग है। इसमें भी निश्चय चारित्र स्वात्मानुभवको बताते हुए उसके लिये निमित्त साधनरूप श्रावक व मुनिके व्यवहार चारित्रके पालनका उपाय बताया है व यह समझाया है कि निश्चय आत्मतत्वके भीतर चर्याके विना व्यवहार चारित्र केवल मोक्षमार्ग नहीं है। आत्माको परमात्मा रूप अनुभव करेगा तब ही सम्यक्चारित्र होगा।

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च ।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥ ४६ ॥

भावार्थ—द्रव्यानुयोग वह है जो दीपकके समान जीव अजीव तत्वोंको, पुण्य पापको, बध व मोक्षको तथा भाव श्रुतज्ञानके प्रकाशको प्रगट करे। इसमे व्यवहारनयसे सात तत्वोका स्वरूप बताकर फिर निश्चयनयसे बताकर यह झलकाया है कि यह अपना आत्मा ही परमात्मा है, यही ग्रहण करनेयोग्य है। मोक्षका उपाय एक शुद्ध आत्माका ज्ञान है।

जो आत्माको ठीकर समझना चाहे व आत्माको निर्वाण पथपर ले जाना चाहे उसका कर्तव्य है कि वह चारों ही अनुयोगोंके ग्रन्थोंका मर्मी हो व चारों हीमे अपने आत्माके शुद्ध तत्वकी झांकी करे। तब पूर्ण निश्चय हो जायगा कि मोक्षमार्ग व द्वादशांग वाणीका सार एक अपने ही आत्माको शुद्ध परमात्माके समान अनुभव करना है।

समयसारमे कहा है—

जो हि सुदेणाभिगच्छदि अप्पाणमिण तु केवलं शुद्धं ।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीपयरा ॥ ९ ॥

भावार्थ—द्वादशांग वाणीके द्वारा अपने आत्माको परके संयोग रहित केवल शुद्ध अनुभव करता है उसीको लोकके ज्ञाता महाऋषियोंने निश्चयसे श्रुतकेवली कहा है। सर्व ग्रंथोंका सार यही है कि कपटको छोड़कर यथार्थ यह जान ले कि मै ही परमात्मा देव हू, आपहीके ध्यानसे शुद्धता प्राप्त होगी।

मैं ही परमात्मा हूं।

जो परमप्पा सो जि हउं जो हउं सो परमप्पु।
इउ जाणेविणु जोइआ अण्णु म करहु वियप्पु ॥ २२॥

अन्वयार्थ—(जोइआ) हे योगी! (जो परमप्पा सो जि हउं) जो परमात्मा है वही मैं हूं (जो हउं सो परमप्पु) तथा जो मैं हूं सो ही परमात्मा है (इउ जाणेविणु) ऐसा जानकर (अण्णु वियप्प म करहु) और कुछ भी विकल्प मत कर।

भावार्थ—यहां और भी दृढ़ किया है कि व्यवहारकी कल्पनाओंको छोड़कर केवल एक शुद्ध निश्चयनयसे अपने आत्माको पहचान। तब आप ही परमात्मा दीखेगा। अपने शरीररूपी मन्दिरमें परमात्मादेव साक्षात् दिख पड़ेगा। शास्त्रोंका ज्ञान संकेत मात्र है। शास्त्रके ज्ञानमें ही जो उलझा रहेगा उसको अपने आत्माका दर्शन नहीं होगा।

यह आत्मा तो शब्दोंसे समझमें नहीं आता, मनसे विचारसें नहीं आता। शब्द तो क्रम क्रमसे एक एक गुण व पर्यायको कहते है। मन भी क्रमसे एक एक गुण व पर्यायका विचार करता है। आत्मा तो अनन्तगुण व पर्यायोंका एक अखण्ड पिंड है। इसका सच्चा बोध तब ही होगा कि जब शास्त्रीय चर्चाओंको छोड़कर व सर्व गुणस्थान व मार्गणाओंके विचारको बन्द करके व सर्व कर्मबन्ध व मोक्षके उपायोंके प्रपंचको त्याग करके व सर्व कामनाओंको दूर करके व सर्व पांचों इन्द्रियोंके विषयोंसे परे होकरके व सर्व मनके द्वारा उठनेवाले विचारोंको रोक करके बिलकुल असंग होकरके अपने ही आत्माको अपने ही आत्माके द्वारा ग्रहण किया जायगा तब अपने आत्माका साक्षात्कार होगा। वह आत्मतत्व निर्विकल्प है अभेद है।

इसलिये निर्विकल्प होनेसे ही हाथमें आता है। जब तक रंच मात्र भी माया, मिथ्या, निदानकी शल्य भीतर रहेगी व कोई प्रकारकी कामना रहेगी व कोई मिथ्यात्वकी गंध रहेगी तब तक आत्माका दर्शन नहीं होगा। यही कारण है जो ग्यारह अंग नौ पूर्वके धारी द्रव्यलिंगी मुनि शास्त्रोंका ज्ञान रखते हुये भी व घोर तपश्चरण करते हुये भी अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं। क्योंकि वे शुद्धात्माकी श्रद्धा पर अनुभवमें पूर्ण हो नहीं पहुचते हैं. उनके भीतर कोई मिथ्यात्वकी शल्य व निदानकी शल्य ऐसी सूक्ष्म रहजाती है जिसको केवलज्ञानी ही जानते हैं। शास्त्रोंका ज्ञान आत्माके स्वरूपको समझनेके लिये जरूरी है। जाननेके पीछे व्यवहार नयके वर्णनको छोड करके शुद्ध निश्चयनयके द्वारा अपने आत्माका मनन करे, मनन करते समय भी मनका आलम्बन है। मनन करते करते जब मनन बंद होगा व उपयोग स्वयं स्थिर हो जायगा तब स्वानुभव होगा, तब ही आत्माका परमात्मा रूप दर्शन होगा व परमानन्दका स्वाद आवेगा। मैं ही परमात्मा हूं ऐसा विकल्प न करते हुये भी परमात्मापनेका अनुभव होगा। परदेशसे कोई फल ऐसा आया है जिसके स्वादको हम नहीं जानते हैं, हमने उसका स्वाद लिया नहीं है, तब हमारा पहले तो कर्तव्य है कि हम फलके गुण व दोष किसी जानकारसे जिसने स्वयं स्वाद लिया है पूछ कर ठीक २ समझले कि यह फल गुणकारी है, स्वास्थ्यवर्द्धक है, मिष्ट है, इत्यादि। जाननेके पीछे हमको उस फलके संबंधकी चर्चा या विचारावली छोडकर फलको रसनाके निकट लेजाकर व अन्य ओरसे उपयोगको रोककर उस उपयोगको फलके स्वाद लेनेसे जोडना होगा, तब हमको एकाग्र होनेपर ही उस फलके स्वादका यथार्थ बोध होगा। यदि हम उस फलको खाते नहीं हम कभी भी उस फलके स्वादको नही पहचान पाते।

लाखों आदमियोंसे फलके गुण सुननेपर भी व पुस्तकोंसे फलके गुण जाननेपर भी हम कभी फलको ठीकर नहीं जान पाते। जैसे फलका स्वाद अनुभवगम्य है वैसे ही आप परमात्मा अनुभवगम्य है।

समयसारकलशमें कहा है-

भूतं भान्तमभूतमेव रभसा निर्भिद्य बन्धं सुधी-
र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देव स्वयं शाश्वत ॥ १२-१ ॥

भावार्थ—जो कोई बुद्धिमान विवेकी भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालके कर्मबंधको अपनेसे एकदम दूर करके व सर्व मोहको बलपूर्वक त्याग करके अपने ही भीतर निश्चयसे अपनेको देखता है तो उसे साक्षात् यह देखनेमे आयगा कि मैं ही सर्व कर्मकलङ्ककी कीचसे रहित अविनाशी एवं परमात्मा देव हूं जिसकी महिमा उसीको विदित होती है जो स्वयं अपने आत्माका अनुभव करता है।

तत्वानुशासनमें कहा है—

कर्मजेभ्य समस्तेभ्यो भावेभ्यो भिन्नमन्वहं।
ज्ञस्वभावमुदासीनं पश्येदात्मानमात्मना ॥ १६४ ॥

भावार्थ—मैं सदा ही कर्मोंके निमित्तसे या समतासे होनेवाले सर्व ही भावोंसे जुदा हूं, ऐसा जानकर अपने ही आत्माके द्वारा अपने आत्माको देखे कि यह परम उदासीन एक ज्ञायक स्वभाव है।

आत्मा असंख्यातप्रदेशी लोकप्रमाण है।

सुद्धपएसह पूरियउ लोयायासपमाणु।
सो अप्पा अणुदिण मुणहु पावहु लहु णिव्वाणु ॥ २३॥

अन्वयार्थ—(लोयायासपमाणु सुद्धपएसह पूरियउ) जो लोकाकाशप्रमाण असंख्यात शुद्ध प्रदेशोंसे पूर्ण है, (सो अप्पा) यही यह अपना आत्मा है (अणुदिण मुणहु) रातदिन ऐसा ही मनन करो व अनुभव करो (णिव्वाणु लहु पावहु) व निर्वाण शीघ्र ही प्राप्त करो।

भावार्थ—पहले वारंवार कहा है कि आत्माका दर्शन निर्वाणका मार्ग है। यहा बताया है कि आत्माका आकार लोकाकाशप्रमाण असंख्यात प्रदेशी है। कोई भी वस्तु जो अपनी सत्ता रखती है कुछ न कुछ आकार अवश्य रखती है। आकार विना वस्तु अवस्तु है। हरएक द्रव्यमे छः सामान्य गुण पाए जाते है—

(१) अस्तित्व—वस्तुका सदा ही बना रहना। हरएक वस्तु सदासे है, उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप सत्पनेको लिये हुए है। वे पर्यायके उपजने विनशनेकी अपेक्षा उत्पाद व्यय व बने रहनेकी अपेक्षा ध्रौव्य है।

(२) वस्तुत्व—सामान्य विशेप स्वभावको लिये हुए हरएक वस्तु कार्यकारी है, व्यर्थ नही है।

(३) द्रव्यत्व—स्वभाव या विभाव पर्यायोंमे हरएक वस्तु परिणमनशील है तौ भी अखण्ड वनी रहती है।

(४) प्रमेयत्व—वस्तु किसीके द्वारा जाननेयोग्य है। यदि जानी न जावे तो उसकी सत्ता कौन बतावे।

(५) अगुरुलघुत्व–वस्तु कभी अपने भीतर पाए जानेवाले गुणोंको कम या अधिक नहीं करती है। मर्यादासे कम या अधिक नहीं होती है।

(६) प्रदेशत्व–हरएक वस्तु कुछ न कुछ आकार रखती है, प्रदेशोंको रखती है, क्षेत्रको घेरती है। जितने आकाशको एक अविभागी पुद्गल परमाणु रोकता है उतने सूक्ष्म आकाशको एक प्रदेश कहते है। यह एक माप है। इस मापसे लोकव्यापी छः द्रव्योंकी माप की जावे तो एक जीव द्रव्य, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, लोकाकाश चारों समान असंख्यात प्रदेशधारी हैं। आकाश अनंत प्रदेशधारी हे। कालाणु एक प्रदेशधारी है।

अनंत आकाशके मध्यमें लोकाकाश है, इसमें छहों द्रव्य सर्वत्र हे। धर्म, अधर्म एक एक लोकव्यापी हे, कालाणु असंख्यात अलग २ है, सब लोकमें पूर्ण है। पुद्गल परमाणु व स्कंधरूपमे सर्वत्र है। जीव सूक्ष्म शरीरधारी एकेन्द्रिय सर्वत्र हैं, बादर कहीं कहीं हे। कोई स्थान इन छः विना नहीं है। जीवद्रव्य अखण्ड होनेपर भी मापसे लोकाकाश प्रमाण असंख्यातप्रदेशी हे। जैन सिद्धांतमे अल्प या बहुत्वका ज्ञान करानेके लिये गणनाके २१ भेद बताए हैं–संख्यात तीन प्रकार–जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट। असंख्यात ३ प्रकार–परीतासंख्यात, युक्तासंख्यात, असंख्यातासंख्यात. हरएक जघन्य, मध्यम, उत्कृष्टसे नौ प्रकार, अनंत नौ प्रकार परीतानंत, युक्तानंत, अनंतानंत, हरएक जघन्य मध्यम, उत्कृष्ट तीनों प्रकार। मनुष्यकी बुद्धि अल्प है इसमें कम व अधिकका अनुमान होनेके लिये २१ भेद गणनाके बताए हैं।

हरएक आत्मा अखंड असंख्यातप्रदेशी है तथा वह परम शुद्ध है। सर्व ही प्रदेश शुद्ध हैं, स्वभावसे स्फटिकके समान निर्मल है।

कर्ममल, नोकर्ममल, रागादि भाव कर्ममलसे रहित है. रत्नके समान परम प्रकाशमान है, ज्ञानमय है, पानीके समान सर्व जाननेयोग्यको झलकानेवाले है. आकाशके समान निर्लेप है। अपने आत्माको शुद्ध असंख्यातप्रदेशी ध्यानसे लेकर अपने शरीरके भीतर ही देखना चाहिये। यद्यपि यह आत्मा शरीरके भीतर व्याप्त है, शरीर प्रमाण आकारधारी है तथापि प्रदेशोंमें असंख्यात ही है।

इस आत्मामे संकोच विस्तार शक्ति है। नामकर्मके उदयसे शरीरप्रमाण आकारको प्राप्त हो जाता है। जैसे दीपकका प्रकाश छोटे बड़े वर्तनमें रक्खा हुआ वर्तनके समान आकारका हो जाता है। साधकको अपने भीतर ऐसे आत्माके आकारको शुद्ध देखना चाहिये। अपनी ही मूर्तिके समान आत्माकी मूर्तिको तदाकार देखना चाहिये। जिस आसनसे ध्यान करे उसी आसनरूप पद्मासन या पर्यंकासन या कायोत्सर्ग अपने आत्माको शुद्ध देखना चाहिये। सिद्धका आकार भी अंतिम शरीरप्रमाण पद्मासन आदि किसी आकार रूप है। प्रदेश अमूर्तीक द्रव्योंके अमूर्तीक व मूर्तीक पुद्गलके मूर्तीक होते हैं। जीव वर्ण, गंध, रस, स्पर्शसे रहित अमूर्तीक है। उसके सर्व प्रदेश भी अमूर्तीक हैं।

गोम्मटसार जीवकांडमे कहा है—

आगासं वज्जित्ता सव्वे लोगम्मि चेव णत्थि वहिं।
वावी धम्माधम्म अवट्ठिदा अचलिदा णिच्चा ॥ ५८२ ॥
लोगस्स असंखेज्जदिभागप्पहुदिं तु सव्वलोगोत्ति।
अप्पपदेसविसप्पणसंहारे वावडो जीवो ॥ ५८३ ॥
पोग्गलदव्वाणं पुण एयपदेसादि होंति भजणिज्जा।
एक्केक्को दु पदेसो कालाणूणं धुवो होदि ॥ ५८४ ॥

संखेज्जासंखेज्जाणंता वा होंति पोग्गलपदेसा।
लोगागासेव ठिदी एगपदेसो अणुस्स हवे ॥ ५८५ ॥
लोगागासपदेसा छद्दव्वेहि फुडा सदा होंति।
सव्वमलोगागासं अण्णेहि विवज्जियं होदि ॥ ५८६ ॥

भावार्थ—धर्म, अधर्म द्रव्य स्थिर चंचलता रहित लोक व्यापी है, लोकके बाहर नही है। जीव अपने प्रदेशोंको संकोच विस्तारके कारण लोकके असंख्यातवे भागसे लेकर सर्वलोकमे भरे हैं। पुद्गल द्रव्य एक प्रदेशको लेकर सर्वत्र है। स्कंधकी अपेक्षा उसके प्रदेश परमाणुकी गणनासे संख्यात असंख्यात तथा अनंत होते है। कालाणु एक एक प्रदेश रखते हुए ध्रुव असंख्यात है। लोकाकाशके प्रदेश छः द्रव्यसे भरे हुये सदा रहते है। अलोकाकाशमे अन्य पांच द्रव्य नहीं हैं। इसतरह नित्य बने रहनेवाले लोकमे अपने आत्माको शुद्ध आकारमे देखना चाहिये।

तत्वानुशासनमे कहा है—

तथा हि चेतनोऽसंख्यप्रदेशो मूर्तिवर्जित।
शुद्धात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञानदर्शनलक्षण. ॥ १४७ ॥

भावार्थ—अपने आत्माको ऐसा ध्यावे कि यह चेतन है, असंख्यात प्रदेशी है, वर्णादि मूर्ति रहित है, शुद्ध स्वरूपी है, सिद्धके समान है व ज्ञान दर्शन लक्षणवान है।

व्यवहारसे आत्मा शरीरप्रमाण है।

णिच्छइ लोयपमाण मुणि ववहारइ सुसरीरु।
एहउ अप्पसहाउ मुणि लहु पावहु भवतीरु ॥ २४ ॥

अन्वयार्थ-(णिच्छइ लोयपमाण ववहार मुसरीरु मुणि) आत्माको लोकप्रमाण व व्यवहार नयसे अपने शरीरके प्रमाण जानो (एहउ अप्पसहाउ मुणि) ऐसे अपने आत्माके स्वभावको मनन करते हुए (भवतीरु लहु पावहु) यह जीव ससारके तटको शीघ्र ही पालेता है अर्थात शीघ्र ही ससार-सागरसे पार होजाता है।

भावार्थ—यह आत्मा देव हरएक ससारी जीवके भीतर उसके शरीरभरमे व्यापकर रहता है, उसके असख्यात प्रदेश संकोचकर शरीरप्रमाण होजाते हैं। आत्मामे सकोच विस्तार शक्ति है जो नाम-कर्मसे उदयसे काम करती है। एक छोटा बालक जन्मके समय अपने छोटे शरीरमे उतने ही प्रमाणमे अपने आत्माको रखता है। जैसे २ उसका शरीर फैलता है आत्मा भी फैलता है। लोकमे सबसे छोटा शरीर लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्म निगोद जीवका होता है। जो घनांगुलके असख्यातवें भाग है व सबसे बडा महामत्स्यका होता है, जो मत्स्य अन्तिम समुद्र स्वयभूरमणमे होता है। मध्यलोकमे असख्यात द्वीप व समुद्र है। एक दूसरेसे दूने दूने चौडे है। पहला मध्यमे जम्बूद्वीप है जो एक लाख योजन चौडा है।

यह मच्छ एक हजार योजन लम्बा होता है। वीचकी अवगा-हनाके अनेक शरीर होते हैं। एक सूक्ष्म निगोद शरीरधारी जीव संसा-रमे भ्रमण करते हुए कभी महामत्स्य होसकता है व महात्स्य भ्रमण करते हुए कभी सूक्ष्म निगोद होसकता है। तौभी आत्माके प्रदेश असख्यातसे कम नहीं होते है। जैसे एक कपडेकी चादर पचास गजकी हो, उसको तह कर डाले तो एक गजके विस्तारमे होसकती है, मापमे ५० गजसे कम नहीं है। इसीतरह आत्माके प्रदेश सको-चसे कम प्रदेशके देहमे आजाते है। अतएव निश्चयनयसे तो यह जीव असख्यात प्रदेश ही रखता है, व्यवहारमे शरीरप्रमाण कहते हैं।

शरीरमे रहते हुए भी सात प्रकारके समुद्घातके समय जीव शरीरके प्रदेशोंको फैलाकर शरीरके बाहर होता है, फिर शरीरप्रमाण होजाता है।

गोम्मटसार जीवकांडमे कहा है—

मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिण्डस्स ।
णिग्गमणं देहादो होदि समुग्घादणामं तु ॥ ६६७ ॥

वेयणकसायवेगुव्वियो य मरणंतियो समुग्घादो ।
तेजाहारो छट्ठो सत्तमओ केवलीणं तु ॥ ६६६ ॥

आहारमारणंतियदुगंपि णियमेण एगदिसिगं तु ।
दसदिसि गदा हु सेसा पंच समुग्घादया होंति ॥ ६६८ ॥

भावार्थ—मूल शरीरको न छोडकर उत्तर देह अर्थात् कार्मण, तैजस देह सहित आत्माके प्रदेशोंका शरीरसे बाहर निकलनेको समुद्घात कहते है। उसके सात भेद हैं:—

(१) **वेदना**—तीव्र रागादिके कष्टसे शरीरको न छोडकर प्रदेशोंका बाहर होना।

(२) **कषाय**—तीव्र कषायके उदयसे परके घातके लिये प्रदेशोंका बाहर जाना।

(३) **विक्रिया**—अपने शरीरको छोटा या बडा करते हुए या एक शरीरके भिन्न अनेक शरीर न करते हुए आत्माके प्रदेशोंका फैलाना, जैसा देव, नारकी, भोगभूमिवासी तथा चक्रवर्तीको या ऋद्धिधारी साधुको होता है।

(४) **मारणांतिक**—मरणके अंतिम अंतर्मुहूर्तमें जहांपर मरके जन्म लेना हो उस क्षेत्रको स्पर्श करनेके लिये आत्माके प्रदेशोंका बाहर जाना फिर लौट आना तब मरना।

(५) तैजस—इसके दो भेद है—अशुभ तैजस, शुभ तैजस। किसी अनिष्ट कारणको देखकर क्रोधसे सनत्र संयमी महामुनिके मूलशरीरको न छोडकर सिंदूरके वर्ण बारह योजन लम्बा नव योजन चौडा सूच्यंगुलके सख्यातवे भाग मोटा अशुभ आकृति सहित बाए कधेसे पुरुषाकार निकलके विरुद्ध वस्तुको भस्म कर फिर उस मुनिको भी भस्म कर दे व उसे दुर्गति पहुचाये सो अशुभ तैजस है। जगतको रोग व दुर्भिक्ष आदिसे पीडित देखकर जिस सयमी मुनिको करुणा उत्पन्न होजावे उसके दाहने कधेसे पूर्वोक्त प्रमाणधारी शुभ आकार-वाला पुरुषाकार निकलकर रोगादि मेटकर फिर शरीरमे प्रवेश कर जावे सो शुभ तैजस है।

(६) आहार—ऋद्धिधारी मुनिको कोई तत्वमे सशय होनेपर व दूर न हो सकनेपर उसके मस्तकसे शुद्ध स्फटिकके रगका एक-हाथप्रमाण पुरुषाकार निकलकर जहा कहीं केवली हों उनके दर्शन करनेसे संशयको मिटाकर अन्तर्मुहूर्तके भीतर लौट आता है।

(७) केवलि—आयुकर्मकी स्थिति कम व शेष कर्मोकी स्थिति अधिक होनेपर केवलज्ञानीके आत्मप्रदेश लोकव्यापी होकर फिर शरीरप्रमाण हो जाते है, आहार व मारणातिक समुद्घातोंमे एक दिशा ही की तरफ प्रदेशोंका फैलाव होकर गमन होता है, जब कि शेष पांचोंमे दशों दिशाओंमे गमन होता है।

इन ऊपर सात कारणोंके सिवाय जीव शरीरप्रमाण रहता है व सिद्ध भगवानका आत्मा भी अन्तिम शरीरप्रमाण रहता है। नाम-कर्मका नाश हो जानेके पीछे उसके उदयके विना प्रदेशोंका सकोच या विस्तार नहीं होता है।

इष्टोपदेशमें पूज्यपाद महाराज कहते है—

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्यय: ।
अत्यंतसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकन: ॥ २१ ॥

भावार्थ—यह आत्मा लोकालोकको देखनेवाला अत्यंत सुखी नित्य द्रव्य है, स्वानुभवसे ही इसका दर्शन होता है। व अपने शरीरके प्रमाण है। अतएव परमानदपद अपने शुद्ध आत्मादेवको शरीरके प्रमाण आकारधारी मनन करे व ध्यावे तो शीघ्र ही निर्वाण पावे।

जीव सम्यक्त बिना ८४ लाख योनिमें भ्रमण करता है।

चउरासीलक्खह फिरिउ काल अणाइ अणंतु।
पर सम्मत्त ण लद्धु जिउ एहउ जाणि णिभंतु ॥२५॥

अन्वयार्थ—(अणाइ काल) अनादिकालसे (चउरासी लक्खह फिरिउ) यह जीव ८४ लाख योनियोंमे फिरता आरहा है (अणंतु) व अनंतकाल तक भी सम्यक्त बिना फिर सक्ता है। (पर सम्मत्त ण लद्धु) परन्तु अबतक इसने सम्यग्दर्शनको नहीं पाया (जिउ) हे जीव! (णिभंतु एहउ जाणि) निःसंदेह इस बातको जान।

भावार्थ—सतपदार्थोंका समूह होनेसे यह लोक तथा संसार अनादि-अनंत है। संसारी जीव अनादिसे ही कर्मबन्धसे ग्रसित है व नए कर्म बांधते है, पुराने कर्मोंको छोड़ते है। मोहनीयकर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टी अज्ञानी, असंयमी होरहे है। उनको शरीरका व इंद्रियोंके सुखोंका व इद्रियसुखके सहकारी पदार्थोंका तीव्र मोह रहता है। इसीसे वे संसारमे नाना शरीरोंको धार करके भ्रमण किया करते हैं।

सम्यग्दर्शन आत्माका स्वभाव झलका देता है। इद्रिय सुखमे श्रद्धा हटा देता है। ससार शरीर भोगोमे वैराग्यभाव पैदा कर देता है, स्वाधीनता या मोक्षका उत्साही बना देता है। अतीन्द्रिय आनन्दका भोक्ता कर देता है। सम्यक्तके प्रकाशमे ससारके भ्रमणमे अरुचि होजात्ती है। एक दफे सम्यक्त होजानेपर यह जीव ससार दशामे अर्द्धपुद्गलपरिवर्तन कालसे अधिक नही रहता है। यद्यपि वहां भी अनतकाल है तथापि सीमित है। सम्यक्ती शीघ्र ही निर्वाणका भागी होजाता है।

सम्यक्तके विना यह जीव नरकके भवोमे दशहजार वर्षकी आयुसे लेकर तेतीस सागर तक, तिर्यञ्चगतिके भवोमे एक अतर्मुहूर्तसे लेकर तीन पल्यकी आयु तक, मनुष्यगतिके भवोमे एक अतर्मुहूर्तसे लेकर तीन पल्यकी आयु तक देवगतिके भवोमे दशहजार वर्षकी आयुसे लेकर नौमे ग्रैवेयिकके इकतीस सागरकी आयु तकके सर्व जन्म बारबार धारण कर चुका है। नौ ग्रैवेयिकसे ऊपर नौ अनुदिश व पाच अनुत्तरोमे व मोक्षमे सम्यग्दृष्टी ही जाता है। ससार-भ्रमणकी योनिया चौरासीलाख है। जहां ससारी जीव उत्पन्न होते है उसको योनि कहते है, वे मूलमे नौ है।

श्री गोमट्टसार जीवकांडमे कहा है—

सामण्णेण य एव णव जोणीओ हवंति वित्थारे।
लक्खाण चदुरसीदी जोणीओ होंति णियमेण ॥ ८८ ॥
णिच्चिदरधादुसत्त य तरुदस वियलिदियेसु छच्चेव।
सुरणिरयतिरियचउरो चोद्दस मणुए सदसहस्सा ॥ ८९ ॥

भावार्थ—मूल भेद योनियोंके गुणोंके सामान्यसे नौ होते है—सचित्त, अचित्त, मिश्र तीन, शीत, उष्ण, मिश्र तीन, सवृत (ढकी),

विवृत (खुली) व मिश्र तीन। हरएक योनिमें तीनोंमेंसे एक एक गुण रहेगा। जैसे सचित्त, शीत व संवृत हो या अचित्त शीत सवृत हो इत्यादि। इसीसे ८४ लाख भेद गुणोंकी तरतमताकी अपेक्षासे हैं। वे इसप्रकार हैं—

(१) नित्य निगोद साधारण वनस्पति जीवोंकी ७ लाख योनियां
(२) चतुर्गति या इतरनिगोद साधा० वन० ,, ७ ,, ,,
(३) पृथ्वीकायिक जीवोंकी ७ ,, ,,
(४) जलकायिक जीवोंकी ७ ,, ,,
(५) अग्निकायिक जीवोंकी ७ ,, ,,
(६) वायुकायिक जीवोंकी ७ ,, ,,
(७) प्रत्येक वनस्पति जीवोंकी १० ,, ,,
(८) द्वेन्द्रिय जीवोंकी २ ,, ,,
(९) तेन्द्रिय जीवोंकी २ ,, ,,
(१०) चौन्द्रिय जीवोंकी २ ,, ,,
(११) देवोंकी ४ ,, ,,
(१२) नारकियोंकी ४ ,, ,,
(१३) पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंकी ४ ,, ,,
(१४) मनुष्योंकी १४ ,, ,,

कुल ८४ लाख योनियां

श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें सम्यक्तकी महिमा बताई है—

न सम्यक्त्वसमं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ॥ ३४ ॥
सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजन्ति नाप्यव्रतिकाः ॥ ३५ ॥

नहीं है। इसे शिवपदके लाभका उपाय रातदिन अपने आत्माके स्वभावका मनन है। आत्मा स्वय मोक्षरूप है। आत्मा स्वय परमात्मा है। अपने शरीररूपी मन्दिरमें अपने आत्मादेवको देखना ही चाहिये कि यह शरीरप्रमाण है तथा यह शुद्ध है। इसमें कार्मण, तैजस, औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, पांचों पुद्गलरचित शरीरोंका सम्बन्ध नहीं है। न इनमें कोई सकल्प विकल्परूप मन है न पुद्गल रचित वचन है। इनमें कोई कर्मोंके उदयजनित भाव राग, द्वेष, मोह आदि नहीं है, यह परमवीतराग है। इसने कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण ये छःकारकोंके विकल्प नहीं हैं न इसमें गुण-गुणीके भेद है। यह एक अखण्ड अभेद सामान्य पदार्थ है। यह ज्ञान स्वभाव है, सहज सामायिक ज्ञानका भण्डार है। इसमें कोई अज्ञान नहीं है। इसका स्वभाव निर्मल दर्पणके समान स्वपर प्रकाशक है। सर्व जाननेयोग्यको झलकानेवाला, एक समयमें खण्डरहित सर्वको विषय करनेवाला यह अद्भुत ज्ञान है। विना प्रयास ही ज्ञानमें ज्ञेय झलकते हैं।

यह आत्मा निरन्तर ज्ञानचेतनामय है। अपने शुद्ध ज्ञान स्वभावका ही स्वाद लेनेवाला है, निरन्तर स्वानुभवरूप है। यह पुण्य-पापकर्म करनेके प्रपचसे व सांसारिक सुखदुःख भोगनेके विकल्पसे दूर है। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना दोनों चेतनाएं अज्ञान-चेतना है। आत्मा ज्ञानचेतनामय है। यही सत्य बुद्धदेव है। आपमें ही आपको जाननेवाला स्वय बुद्ध है और कोई बौद्धोंका देवता बुद्ध नहीं है। सच्चा बुद्धदेव यह आत्मा ही है, यही सच्चा जिन है। सर्व आस्रवों, रागादि व कर्मादि शत्रुओंको जीतनेवाला है। और कोई समवसरणादि लक्ष्मी सहित जिन है सो व्यवहार जिन है। यहां भी निश्चय जिन जिनराजका आत्मा ही है।

इसतरह निज आत्माको परम शुद्ध एकाकी मनन करना चाहिये तब कोई लौकिक कामना नहीं रखना चाहिये कि कोई चमत्कार सिद्ध हो व कोई ऋद्धिसिद्धि हो व लोकमे मान्यता हो व प्रसिद्धि हो । केवल एक अपने आत्माके विकासकी भावना रखके आत्माको ध्याना चाहिये । ध्यानकी शक्ति बढ़नेसे स्वयं कर्मोंकी निर्जरा होती जायगी, नवीन कर्मोंका संवर होता जायगा और यह आत्मा स्वयं शुद्ध होता हुआ शिवरूप हो जायगा ।

समयसार कलशामे कहा है—

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयं ।
अतोऽतिरिक्ता सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥३—२॥

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रं ।
इममुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तं ॥ ४—२ ॥

भावार्थ—यह जीव चैतन्य शक्तिसे सर्वांगपूर्ण है । इसके सिवाय सर्व ही रागादि भाव पुद्गलकी रचना है । वर्तमानमे चैतन्य-शक्तिके सिवाय सर्व ही पापोंको छोडकर व चैतन्य शक्तिमात्र भावके भीतर भले प्रकार प्रवेश करके सर्व जगतके ऊपर भले प्रकार साक्षात् प्रकाशमान अपने ही आत्माको जो अनंत है, अनंतगुणोंका भंडार है, अपने ही भीतर आत्मारूप होकर आत्माको अनुभव करना योग्य है। आपसे ही आपको ध्याना चाहिये।

मोक्षपाहुड़मे कहा है—

अप्पा चरित्तवंतो दंसणणाणेण संजुदो अप्पा ।
सो झायव्वो णिच्चं णाऊणं गुरुपसाएण ॥ ६४ ॥

भावार्थ—यह आत्मा दर्शनज्ञान सहित है, वीतराग चारित्रवान है, इसको गुरुके प्रसादसे जानकर सदा ध्याना चाहिये।

निर्मल आत्माकी भावना करके ही मोक्ष होगी।

जाम ण भावहु जीव तुहुं णिम्मलअप्पसहाउ।
ताम ण लब्भइ सिवगमणु जहिं भावहु तहिं जाउ ॥२७॥

अन्वयार्थ—(जीव हे जीव ! (जाम तुहुं णिम्मल अप्प सहाउ ण भावहु) जबतक तू निर्मल आत्माके स्वभावकी भावना नहीं करता। (ताम सिवगमणु ण लब्भइ) तबतक तू मोक्ष नहीं पासकता (जहिं भावहु तहिं जाउ) जहां चाहे वहां तू जा।

भावार्थ—यहा फिर भी दृढ किया है कि शुद्ध आत्माके स्वभावकी भावना ही एक संसार-सागरसे पार करनेवाली नौका है। वह निश्चय रत्नत्रय स्वरूप है, शुद्धात्मानुभव स्वरूप है। यही भाव संवर व निर्जरातत्व है। इस भावकी प्राप्तिके लिये जो जो साधन किये जाते हैं, उसको व्यवहार धर्म या निमित्त कारण कहते है। कोई अज्ञानी व्यवहार धर्म हीमे उलझ जावे, निश्चय धर्मका लक्ष्य छोड़ दे तो वह एक पग भी मोक्षपथ पर नहीं चल सक्ता।

निश्चय धर्म तो अपने ही भीतर है बाहर नहीं है, परन्तु उसको जागृत करनेके लिये गृहस्थोंको यह उपदेश है कि श्री जिनमंदिरोंमें जाकर देवका दर्शन व पूजन करो, गुरु महाराजकी सेवामे जाकर वैयावृत्य करो। शास्त्रभवनमे जाकर स्वाध्याय करो, सम्मेदशिखर, गिरनार, पावापुर, बाहुबली, मांगीतुंगी, मुक्तागिरि आदि तीर्थस्थानोंकी यात्रा करो, सामायिक करनेके लिये एकांत स्थान उपवन, नदी, तट, पर्वत आदिमे बैठो। प्रोषधशालामे बैठकर उपवास करो। ये सब

कार्य निमित्त मात्र है। कोई अज्ञानी केवल निमित्त मिलानेको ही मोक्षमार्ग समझ ले तो यह उसकी भूल है। मन्दिरादि व तीर्थादि व प्रतिमादिके आलम्बनसे अपने भीतर आत्माका दर्शन व पूजन या आत्मारूपी तीर्थकी यात्रा की जावे तब ही निमित्तोंका मिलाना सफल है।

इसीतरह साधुओंको उपदेश है कि एकांत वन, पर्वत, गुफा, नदी, तट, ऊजड मकान, पर्वतका शिखर व अत्यन्त ही शून्य स्थलमें वैठकर व आसन लगाकर ध्यानका अभ्यास करो, कामको पुष्ट न करो, इन्द्रियदमन करो, चातुर्मासके सिवाय नगरके बाहर पांच दिन व ग्रामके बाहर एक दिनसे अधिक न ठहरो, गृहस्थके घर भिक्षा लेकर तुर्त वनमे लौट जाओ, नग्न रहकर शीत, उष्ण, डास, मच्छर, नग्नता, स्त्री आदिकी वाईस परीषह सहन करो, मौन रहो, मन, वचन, काय गुप्तिको पालो, मार्गको निरखकर चलो। मुनियोंकी संगतिमें रहो, शास्त्रपाठ करो, तत्वोंका मनन करो, तीर्थयात्रा करो।

ये सब निमित्त है। इनको मिलाकर साधुको शुद्धात्माका अनुभव करना चाहिये। कोई अज्ञानी साधु इन बाहरी क्रियाओंको ही मोक्षमार्ग मानकर सन्तोषी हो जावे और अपने आत्माके शुद्ध स्वभावका दर्शन मनन व अनुभव न करे तो वह मोक्षमार्गी नही है, वह संसारवर्द्धक है, पुण्य बांधकर भवमे भ्रमण करनेवाला है।

वास्तवमे अपने आत्माकी निर्मल भूमिमे चलना ही चारित्र है, यही मोक्षमार्ग है, ऐसा दृढनिश्चय रखके साधकको इसी तत्वके लाभका उपाय करना योग्य है। **समाधिशतकमे** कहा है—

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः ॥ ७३ ॥

भावार्थ—जो आत्माको न देखनेवाले वहिरात्मा हैं उनको यह दोप्रकारका विकल्प होता है कि ग्राममें न रहो वनमें ही रहो, वनमें रहनेसे ही हित होगा। वे वननिवासमें ही सन्तोषी होजाते है। परतु आत्माके देखनेवालोंका निवास परभावोंसे भिन्न निश्चल एक अपना शुद्धात्मा ही है, वे निमित्त कारण मात्रमे संतुष्ट नहीं होते है। आत्मामे निवासको ही अपना सच्चा आसन जानते है।

मोक्षपाहुड़मे कहा है—

जो इच्छइ णिस्सरिदुं संसारमहण्णवाउ रुद्दाओ।
कम्मिधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं ॥ २६ ॥

भावार्थ—जो कोई इस भयानक संसार सागरसे पार होना चाहे व कर्म-ईंधनको जलाना चाहे तो उसे अपने शुद्ध आत्माका ध्यान करना चाहिये। आत्माका ध्यान ही मोक्षमार्ग है। जो आत्म-रसिक है वही मोक्षमार्गी है।

त्रिलोकपूज्य जिन आत्मा ही है।

जो तइलोयहं झेउ जिणु सो अप्पा णिरु वुत्तु।
णिच्छयणइ एमइ भणिउ एहउ जाणि णिभंतु ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ—(जो तइलोयहं झेउ जिणु) जो तीनलोकके प्राणियोंके द्वारा ध्यान करने योग्य जिन है (सो अप्पा णिरु वुत्तु) वह यह आत्मा ही निश्चयसे कहा गया है (णिच्छयणइ एमइ भणिउ) निश्चयनय ऐसा ही कहती है (एहउ णिभंतु जाणि) इस बातको सदेह रहित जान।

भावार्थ—यहां यह बताया है कि यह आत्मा ही वास्तवमें श्री जिनेन्द्र परमात्मा है जिसको तीनलोकके भक्तजन ध्याते हैं, पूजते

हैं, मानते है सो इन्द्र प्रसिद्ध हैं जैसा इस गाथामे कहा है। ये सब अरहत्त परमात्माको नमन करते है।

भवणालय चालीसा विंतर देवाण होंति बत्तीसा।
कप्पामर चौवीसा चन्दो सूरो णरो तिरिओ ॥

भावार्थ—भवनवासी देव, असुर कुमार, नागकु०, विद्युतकु०, सुवर्णकु०, अग्निकु०, वातकु०, स्तनितकु०, उदधिकु०, द्वीपकु०, दिक्कुमार ऐसे दश जातिके होते है। हरएकमे दो दो इन्द्र, दो दो प्रत्येन्द्र होते हैं। इसतरह चालीस इन्द्र हुए। व्यंतर देव आठ प्रकारके होते है–किन्नर, किंपुरुष महोरग, गंधर्व, यक्ष राक्षस, भूत, पिशाच। इनमे भी दो दो इन्द्र, दो दो प्रत्येन्द्र इसतरह बत्तीस इन्द्र हुए। सोलह स्वर्गमे प्रथम चारमे चार मध्य आठमे चार, अन्त चारमें चार ऐसे बारह इन्द्र, बारह प्रत्येन्द्र इसतरह २४ हुए। ज्योतिषी देवोंमे चन्द्रमा इन्द्र, सूर्य प्रत्येन्द्र, मनुष्योंमे इन्द्र चक्रवर्ती, पशुओंमे इन्द्र अष्टापद, सब १०० इन्द्र नमस्कार करते हैं।

नमस्कार दो प्रकारका होता है–व्यवहार नमस्कार निश्चय नमस्कार। जहा शरीरादि बाहरी पदार्थोंकी प्रशंसाके द्वारा स्तुति हो, वह व्यवहार नमस्कार है। जहा आत्माके गुणोंकी स्तुति हो वह निश्चय नमस्कार है। जैसे अरहन्तके शरीरकी शोभा कहना कि वे परम देदीप्यमान है, १००८ लक्षणोंके धारी है, निरक्षरी वाणी प्रगट करते है, समवसरण सहित हैं, बारह सभामे बैठे प्राणियोंको उपदेश देते हैं। यह सब व्यवहार स्तुति है।

भगवान् अरहन्त अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त वीर्यके धारी है, परम वीतराग हैं, परमानन्दमय है, असंख्यात प्रदेशी हैं, अमूर्तीक है, इत्यादि। आत्माश्रित स्तुति सो

निश्चय स्तुति या नमस्कार है। अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु पांच परमेष्ठीकी आत्माकी स्तुति सो हरएक आत्माकी स्तुति है। क्योंकि निश्चयसे हरएक आत्मा आत्मीक गुणोंका भण्डार है। जगतकी सब आत्माए निश्चयनयसे समान शुद्ध है अतएव तीन लोकके प्राणी जिसको ध्याते है, पूजते है व वदते है वही परमात्मा या आत्मा है, वही मैं हूं। मैं ही त्रिलोकपूज्य परमात्मा जिनेन्द्र हूं ऐसा भ्रान्ति रहित निश्चयसे जानना चाहिये। तब और किसी दूसरे परमात्माकी ओर दृष्टि न रखकर दो भिन्न २ व्यक्तियोंमें ध्याता व ध्येयकी कल्पना न करके आपहीको ध्याता व ध्येय मानके अद्वैत एक ही भावमे तल्लीन हो यही मोक्षमार्ग है। समयसारमे कहा है—

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु इक्को।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो॥ ३२॥
इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं॥ ३३॥
तं णिच्छयेण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलि थुणदि॥ ३४॥
जो मोहं तु जिणित्ता, णाण सहावाधियं मुणदि आदं।
तं जिद मोहं साहुं, परमट्ठवियाणया वेंति॥ ३७॥

भावार्थ—व्यवहारनयसे ऐसा कहते है कि शरीर और आत्मा एक है परतु निश्चयनयसे आत्मा व शरीर एक पदार्थ नही है। मुनिगण केवली भगवानके पुद्गलमय शरीरकी स्तुति व्यवहारनयसे करके मानते यही है कि हमने केवली भगवानकी ही स्तुति या वदना की। परंतु निश्चयनयसे यह स्तुति ठीक नहीं है। क्योंकि शरीरके गुण केवली भगवानकी आत्माके गुण नहीं है, निश्चयसे जो

केवली भगवानकी आत्माकी स्तुति है वही केवलीकी यथार्थ स्तुति है। जैसे कहना कि जो मोहको जानकर ज्ञानस्वभावसे पूर्ण आत्माका अनुभव करता है वह जितमोह है ऐसा परमार्थके ज्ञाता कहते है। निश्चय स्तुति आत्मापर लक्ष्य दिलाती है इसलिये यथार्थ है।

मिथ्यादृष्टीके व्रतादि मोक्षमार्ग नहीं।

वयतवसंजममूलगुण मूढह मोक्ख णिवुत्तु।
जाम ण जाणइ इक्क परु सुद्धउभाउपवित्तु ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ—(जाम इक्क परु सुद्धउपवित्तु भाउ ण जाणइ) जबतक एक परम शुद्ध व पवित्र भावका अनुभव नहीं होता (मूढह वयतवसंजम मूलगुण मोक्ख णिवुत्तु) तबतक मिथ्यादृष्टी अज्ञानी जीवोंके द्वारा किये गये व्रत, तप, सयम व मूलगुण पालनको मोक्षका उपाय नही कहा जासक्ता।

भावार्थ—निश्चयसे शुद्ध आत्माका भाव ही मोक्षका मार्ग है। शुद्धोपयोगकी भावनाको न भाकर या शुद्ध तत्वका अनुभव न करते हुये जो कुछ व्यवहारचारित्र है वह मोक्षमार्ग नहीं है संसारमार्ग है, पुण्यबंधका कारक है। मिथ्यादृष्टी आत्मज्ञानशून्य बहिरात्मा बाहरसे मुनिभेष धरकरके यदि पांच महाव्रत पाले, बारह तप तपे, इंद्रिय व प्राणिसयमको साधे, नीचे लिखे प्रमाण अठ्ठाईस मूलगुण पाले तौभी वह सवर व निर्जर तत्वको न पाकर कर्मोंसे मुक्ति नही पासक्ता। ऐसा द्रव्यलिगी साधु पुण्य बांधकर नौवे ग्रैवेयिक तक जाकर अहमिंद्र होसक्ता है परन्तु संसारसे पार करनेवाले सम्यग्दर्शनके विना अनन्त ससारमे ही भ्रमण करता है। व्यवहार चारित्रको निमित्त मात्र व बाहरी आल म्बन मात्र मानके व निश्चय चारित्रको उपादान कारण मानके ज

स्वानुभवका अभ्यास करे तो निर्वाणका मार्ग तय कर सके।

प्रवचनसारमें श्री **कुन्दकुन्दाचार्य** अट्ठाईस मूलगुण कहते हैं—

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं।

खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयण मे गभत्तं च ॥ ८ ॥

एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहि पण्णत्ता।

तेसु पमत्तो समणो छेदो वट्ठावगो होदि ॥ ९ ॥

भावार्थ—**पांच** महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग।

पांच समिति—ईर्या (देखकर चलना), भाषा, एषणा (शुद्ध आहार), आदाननिक्षेपण, व्युत्सर्ग (मल मूत्र देखकर करना)।

पांच इंद्रिय विषय निरोध-**छः आवश्यक नित्यकर्म**—सामायिक, प्रतिक्रमण (पिछले दोषका निराकरण), प्रत्याख्यान (त्यागकी भावना), स्तुति, वन्दना, कायोत्सर्ग। **सात अन्य**—१ केशोंका लोंच, २ नग्नपना, ३ स्नान न करना, ४ भूमिपर शयन, ५ दन्तवन न करना, ६ खडे होकर हाथमे भोजन लेना, ७ दिन-रातमे एक दफे दिनमे भिक्षा लेना ये २८ मूलगुण साधुओंके हैं ऐसा जिनेन्द्रने कहा है उनमे प्रमाद हो जानेपर छेदोपस्थापन या प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होना चाहिये। **समयसारमें** कहा है—

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहि पण्णत्तं।

कुव्वंतोवि अभविओ अण्णाणी मिच्छदिट्ठीय ॥ २९१ ॥

मोक्खं असद्दहन्तो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज।

पाठो ण करेदि गुणं असद्दहन्तस्स णाणं तु ॥ २९२ ॥

भावार्थ—जिनेन्द्रोंने कहा है कि अभव्य जीव व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तपको पालते हुए भी आत्मज्ञानके विना अज्ञानी व

मिथ्यादृष्टी ही रहता है। मोक्षके स्वरूपकी श्रद्धा न रखता हुआ अभव्य जीव कितना भी शास्त्र पढ़े, उसका पाठ गुणकारी नहीं होता है, क्योंकि उसको आत्माके सम्यग्ज्ञानकी तरफ विश्वास नहीं आता है।

भावपाहुडमे कहा है कि भावमें आत्मज्ञानी ही सच्चा साधु है—

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहि सयलपरिचत्तो ।

अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ॥ ५६ ॥

भावार्थ—जो शरीरादिकी ममतारहित हो व मानकषायसे बिलकुल अलग हो व आत्माको आत्मामे लीन रक्खे वही भावलिंगी साधु होता है।

व्रतीको निर्मल आत्माका अनुभवकरना योग्य है।

जो णिम्मल अप्पा मुणइ वयसंजमुसंजुत्तु ।

तो लहु पावइ सिद्ध सुहु इउ जिणणाहह वुत्तु ॥३०॥

अन्वयार्थ—(जो वयसंजमुसंजुत्त णिम्मल मुणइ) जो व्रत, संयम सहित निर्मल आत्माका अनुभव करे (तो सिद्ध सुहु लहु पावइ) तो सिद्धि या मुक्तिका सुख शीघ्र ही पावे (इउ जिणणाहह वुत्तु) ऐसा जिनेन्द्रका कथन है।

भावार्थ—हरएक कार्यकी सिद्धि उपादान व निमित्त कारणसे होती है। उपादान कारण तो अवस्थाको पलटकर अवस्थांतर हो जाता है। मूल द्रव्य बना रहता है। निमित्त कारण दूर ही रह जाते है। मिट्टीका घडा बना है। घडे रूपी कार्यका उपादान कारण मिट्टी है। मिट्टीका पिंड ही घडेकी दशामे पलटा है। निमित्त कारण चाक व कुम्हारादि घडे बनने तक सहायक है। घडा बन जानेपर वे सब दूर रह जाते हैं।

इसी तरह निर्वाण रूपी कार्यके लिये उपादान कारण अपने ही शुद्ध आत्माका ध्यान है। निमित्त कारण व्यवहार व्रत संयम तप आदि है। व्रत सयम तप आदिके निमित्तसे व आलम्बनसे जब आत्माका ध्यान होगा व भावोंमे शुद्धता बढेगी तब ही सवर व निर्जरा तत्व होगा। इसलिये यहां कहा है कि व्रत सयम सहित होकर निर्मल आत्माका ध्यान सिद्ध सुखका साधन है। व्यवहार चारित्रकी इसलिये आवश्यक्ता है कि मन, वचन, कायको वश रखनेकी जरूरत है। जबतक ये तीनो चञ्चल रहेगे तबतक आत्माका ध्यान नही होसकता।

आत्माके ध्यानके लिये एकात स्थानमे ठहरकर शरीरको निश्चल रखना होगा, वचनोका त्याग करना होगा, जगतके प्राणियोंसे वार्तालाप छोडना होगा, पाठ पढना छोडना होगा, जप करना छोडना होगा, बिलकुल मौनमे रहना होगा, मनका चिन्तवन छोडना होगा, यहांतक कि आत्माके गुणोका विचार भी छोडना होगा। जब उपयोग मन, वचन, कायसे हट करके केवल अपने ही शुद्धात्माके भीतर श्रुतज्ञानके वलसे या शुद्ध निश्चयनयके प्रतापसे जमेगा तब ही मोक्षका साधन बनेगा, तब ही स्वानुभव होगा, तब ही वीतरागता होगी, तब ही आत्मा कर्ममलसे रहित होगा। ध्यानके समय मनके भीतर बहुतसे विचार आजाते है।

उनमे जो गृहस्थ सम्बधी बातोंके विचार है वे महान् बाधक है। हिसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रहकी चिन्ता, ध्यानमे हानिकारक है। इसलिये साधुजन पाचों पापोंको पूर्णपने त्याग देते है, गृहस्थका व्यापारादि कुछ नहीं करते है। साधु केवल धार्मिक व्यवहार करते है। जैसे—शास्त्र पठन, उपदेश, विहार, शिष्योंको शिक्षा, सन्तोषपूर्वक आहार। ध्यानके समय ये शुभ कामोंके विचार आ

सकते ह। ये विचार ध्यानके जमानेके लिये कभी२ निमित्त साधक होजाते है परन्तु इन विचारोंके भी बंद हुए विना ध्यान नहीं होगा।

यदि कोई व्यवहार चारित्रको नहीं पाले, लौकिक व्यवहारमें लगा रहे तो आत्माके भीतर उपयोग स्थिर नहीं हो सकेगा। इसी कारण परिग्रह त्यागी निर्ग्रंथ मुनि ही उत्तम धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान कर सक्ते है। गृहस्थको भी मन वचन कायकी क्रियाको स्थिर करनेके लिये वारह व्रतोंका संयम जरूरी होता है। जितना परिग्रह कम होगा उतनी मनमे चिन्ता कम होगी। केवल व्यवहार चारित्रसे, मुनि व श्रावकके भेपसे, मोक्षका कुछ भी साधन नहीं होगा। मोक्ष जो आत्माका पूर्ण स्वभाव है। तब उसका साधन उसी स्वभावकी भावना है, आत्मदर्शन है, निश्चय रत्नत्रय है, स्वानुभव है। स्वानुभवके लाभके लिये निमित्त व्यवहार चारित्र है।

समयसारमे कहा है—

णवि एस मोक्खमग्गो पाखंडी गिहमयाणि लिंगाणि।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति॥ ४३२॥
जह्मा जहित्तु लिंगे सागारणगारि एर्हि वा गहिदे।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे॥ ४३३॥

भावार्थ—साधुके व गृहस्थके भेष व व्यवहार चारित्र मोक्षमार्ग नहीं है, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मोक्षमार्ग है ऐसा जिनेन्द्र कहते ह। इसलिये गृहस्थके व साधुके भेपमें या व्यवहार चारित्रमें ममता त्यागकर अपनेको निश्चय रत्नत्रयमई मोक्षमार्गमें जोड दे।

समयसार कलशमें कहा है—

व्यवहारविमूढदृष्टय परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।
तुपबोधविमुग्धबुद्धय कलयन्तीह तुपं न तन्दुलम्॥-४८—१०॥

भावार्थ—जो मानव व्यवहार चारित्रसे ही मूढ़ हैं उसहीसे मोक्ष मानते है और परमार्थ या निश्चय रत्नत्रय या स्वानुभवको मोक्षमार्ग नही समझते है वे पुरुष वैसे ही मूढ है जैसे जो तुपको तंदुल समझकर तुपको चावलोंके लिये कूटे। वे कभी चावलका लाभ नहीं कर सकेंगे। व्यवहार चारित्र तुप है निश्चय चारित्र तंदुल है। तंदुल विना तुप वृथा है, निश्चय चारित्रविना व्यवहारचारित्र वृथा है।

अकेला व्यवहारचारित्र वृथा है।

वयतवसंजमुसीलु जिय ए सव्वे अकइच्छु।
जाम ण जाणइ इक्क परु सुद्धउ भाउ पवित्तु ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ—(जिय) हे जीव ! (जाणइ इक्क परु सुद्धउ पवित्तु भाउ ण जाणइ) जबतक एक उत्कृष्ट शुद्ध वीतराग भावका अनुभव न करे (वयतव संजमु सीलु ए सव्वे अकइच्छु) तब-तक व्रत, तप, संयम, शील ये सर्व पालना वृथा है, मोक्षके लिये नहीं है। पुण्य बांधकर संसार बढ़ानेवाले है।

भावार्थ—व्यवहारचारित्र निश्चयचारित्रके विना निर्वाणके लिये व्यर्थ है। निर्वाण कर्मोंके क्षयसे होता है उसका उपाय वीतराग-भाव है,जो शुद्धात्मानुभवमें प्राप्त होता है। निश्चयचारित्र स्वसमयरूप है, आत्माहीका एक निर्मल भाव हे। जहा इस भावपर लक्ष्य नही है वह मोक्षमार्ग नहीं है।

व्यवहार व्रतादि पालनमें मन, वचन, कायकी शुभ प्रवृत्ति होती है। शुभोपयोग या मन्द कपाय हे। सम्यग्दर्शनके विना मन्द कषायको भी वास्तवमें शुभोपयोग नहीं कह सक्ते है तौ भी जहां

मन्द कषायसे शुभ प्रवृत्ति है, दयाभावसे वर्तन है, परोपकार भाव है, शास्त्रोंका विचार है, जीवादि तत्वोंका मनन है, वहां अशुभ भाव न होकर शुभभाव है जो पुण्यबन्धका कारक है।

द्रव्यसंग्रहमे कहा है—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं ।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिण भणियं ॥ ४५ ॥

भावार्थ—अशुभसे छूटकर शुभमे प्रवृत्ति करना व्यवहारनयसे जिनेन्द्रने चारित्र कहा है–वह पाच महाव्रत, पाच समिति तीन गुप्तिरूप है। व्यवहार पराश्रित है। मन, वचन, कायके आश्रित है इसलिये वहां उपयोगपर मुखाकार है, अपने आत्मासे दूर है इसलिये बन्धका कारक है, निश्चय स्वाश्रय है। आत्मा ही पर उपयोग सन्मुख है वहीं शुद्ध भावना है जो निर्वाणका कारण है। यदि कोई सम्यग्दृष्टी नहीं है और वह केवल व्यवहारचारित्रसे मोक्षमार्ग मान ले तो यह उसकी भूल है, यह ससारका ही मार्ग है।

बाहरी आलम्बनको या निमित्तको उपादान मानना मिथ्यात्व है। करोडों जन्मोंमे यदि कोई व्यवहार चारित्र पाले तब भी वह मोक्षके मार्गपर नही है। शुद्धात्मानुभवके प्रतापसे अनादिका मिथ्यादृष्टी जीव सम्यक्ती व संयमी होकर उसी भवसे निर्वाणका भागी होसकता है। **समयसार कलशामे** कहा है—

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥ ७ ॥
वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि ।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥ ८–४ ॥

भावार्थ—आत्माका ज्ञान स्वभावसे वर्तना, सदा आत्मीक

ज्ञानमें रहना है, यही मोक्षका साधन है। क्योंकि यहाँ उपयोग एक ही आत्मा द्रव्यके स्वभावमें तन्मय है। शुभ क्रियाकांडमें वर्तना आत्माके ज्ञानमे परिणमन नहीं है, यह मोक्षका कारण नहीं है। क्योंकि अन्य द्रव्यके स्वभावपर यहां लक्ष्य है, आत्मापर ध्यान नही है। मोक्षपाहुडमे कहा है—

जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठी हवेइ सो साहू।
मिच्छत्तपरिणदो उण बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहि ॥ १५ ॥

भावार्थ—जो कोई आत्माको छोडकर परद्रव्यमे रति करता है वह मिथ्यादृष्टी है। मिथ्या श्रद्धानसे परिणमता हुआ दुष्ट आठों कर्मोको बांधता रहता है।

पुण्य पाप दोनों संसार है।

पुण्णि पावइ सग्ग जिउ पावइ णरयणिवासु।
वे छंडिवि अप्पा मुणइ तउ लब्भइ सिववासु ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ—(जिउ पुण्णिं सग्ग पावइ) यह जीव पुण्यसे स्वर्ग पाता है (पावइ णरयाणिवासु) पापसे नर्कमे जाता है (वे छंडिवि अप्पा मुणइ) पुण्य पाप दोनोंसे ममता छोडकर जो अपने आत्माका मनन करे (तउ सिववासु लब्भइ) तो शिव महलमें वास पाजावे।

भावार्थ—पुण्य व पाप दोनों ही कर्म ससार-भ्रमणके कारण है। दोनों ही प्रकारके कर्मोंके बन्धके कारण कपायभाव है। मन्द-कपायसे पुण्य कर्मका बन्ध होता है, तीव्र कषायसे पापका बंध होता है। पुण्य कर्म सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र है। इनका बंध प्राणी मात्रपर दयाभाव, आहार, औषधि, अभय व विद्या

चार प्रकार दान, श्रावक व मुनिका व्यवहार चारित्र, क्षमाभाव, सन्तोष. सन्तोषपूर्वक आरम्भ, अल्प ममत्व, कोमलता, समभावसे कष्ट सहन, मन, वचन, कायका सरल कपट रहित वर्तन, परगुण प्रशसा, आत्मदोष निन्दा, निरभिमानता आदि शुभ भावोंसे होता है। असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीचगोत्र व ज्ञानावरणादि चार घातीय कर्म पापकर्म है। उनका बन्ध ज्ञानके साधनमे विघ्न करनेसे, दुःखित, शोकित होनेसे, रुदन करनेसे, परको कष्ट देनेसे, परका घात करनेसे, सच्चे देव गुरु धर्मकी निन्दा करनेसे, तीव्र कषाय करनेसे, अन्यायपूर्वक आरम्भ करनेसे, बहुत मूर्च्छा रखनेसे, कपटसे वर्तन करनेसे, मन वचन कायको वक्र रखनेसे, झगडा करनेसे, परनिन्दा व आत्म प्रशसासे, अभिमान करनेसे, दानादिमे विघ्न करनेसे, अन्यका बुरा चितवनसे, कठोर व असत्य वचनसे, पाच पापोमे वर्तनसे होता है।

दोनोंके फलसे देव, मनुष्य, तिर्यंच, नरक गतियोमे जाकर सासारिक सुख व दु खका भोग करना पडता है। व्रत, तप, शील, संयमके पालनमे शुभ राग होता है, पुण्यका बन्ध होता है। उससे कर्मका क्षय नहीं हो सक्ता है। इसलिये यहां कहा है कि पुण्य व पाप दोनों ही प्रकारके कर्मोंको बेडी समझकर दोनोंहीके कारण भावोंसे राग छोडकर एक शुद्ध आत्मीक भावका अनुभव करना योग्य है।

मोक्षका कारण एक **शुद्धोपयोग** है। पाप व पुण्य दोनोंके बन्धका कारण एक कषायभाव है। दोनोंका स्वभाव पुद्गलकर्म है। दोनोंका फल सुखदुःख है जो आत्मीक सुखका विरोधी है। दोनो ही बन्ध मार्ग है। ऐसा समझकर ज्ञानीको सर्व ही पुण्यपापसे पूर्ण वैराग्य रखना चाहिये। केवल एक अपने शुद्ध आत्माका ही दर्शन

करना चाहिये। परिणामोंकी थिरता न होनेसे यदि कदाचित् व्यवहारचारित्र पालना पडे तो उससे मोक्ष होगी ऐसा मानना नहीं चाहिये।

व्यवहार चारित्रको बन्धका कारण जानकर उसको त्यागने योग्य समझना चाहिये। जैसे कोई सीढीपर चढ़ता है उसे त्यागने योग्य समझकर छोडता ही जाता है। निश्चय चारित्रपर पहुंचकर व्यवहारका स्मरण भी नहीं रहता है। जैसे कोठेके ऊपर पहुंचकर फिर सीढीको कौन याद करता है? सीढी तो ऊपर आनेके निमित्त थी। इसी तरह व्यवहार चारित्रका निमित्त निश्चयका साधक है। निश्चय प्राप्त होनेपर वह स्वयं भावोंसे छूट जाता है, व्यवहार चारित्रका राग नहीं रहता है। **समयसारमें** कहा है—

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाण सुहसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥ १५२ ॥
सोवण्णियह्मि णियलं बंधदि कालायसं च जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥ १५३ ॥
तह्मादु कुसीलेहिय रायं माकाहि माव संसग्गं।
साहीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेहिं ॥ १५४ ॥

भावार्थ—अशुभ कर्म कुशील है, शुभ कर्म सुशील है, अच्छा है ऐसा व्यवहारी लोग कहते है। आचार्य कहते हैं कि शुभ कर्मको सुशील हम नहीं कह सकते। क्योंकि यह संसारमें भ्रमण कराता है। जैसे लोहेकी बेडी पुरुषको बांधती है वैसे ही सोनेकी बेड़ी बांधती है। उसीतरह शुभ व अशुभ दोनों ही किये गये काम जीवको बांधते ही हैं।

इसलिये पुण्य पाप दोनोंको कुशील व खोटे समझकर उनसे राग व उनकी संगति करना योग्य नहीं है। क्योंकि कुशीलोंकी

होता है। इस आत्मानुभवके लिये जो बाहरी साधन व्रत, तप आदि व्यवहारचारित्र किया जाता है वह मात्र व्यवहार है, निमित्त है। यदि कोई व्यवहार ही चारित्र पाले तो भ्रम है, वह निर्वाणका साधन नहीं करता है।

आचार्य वारवार इसी बातकी प्रेरणा करते है कि हे योगी! तू मन, वचन, कायकी क्रियाको मोक्षका उपाय मत जान। जहां किंचित् भी विकल्प है या कुछ भी परपदार्थपर दृष्टि है वहां शुभ राग है, वह बन्धका कारण है, कर्मकी निर्जराका कारण नहीं है। इसलिये तू सर्व प्रपंचजाल व चिंता छोडकर निश्चित होकर एक अपने ही आत्माकी तरफ लौ लगा, उसीको ध्याव, उसीका मनन कर, उसीमें सन्तोष मान, एक शुद्ध आत्माके अनुभवसे उत्पन्न आनन्दामृतका पान कर।

व्यवहारचारित्रको व्यवहार मात्र समझ। विना निश्चयचारित्रके उसका कोई लाभ मोक्षमार्गमे नही है। व्यवहार मुनिका या श्रावकका सयम ठीक २ शास्त्रानुसार पालकर भी यह अहंकार मत कर कि मै मुनी हू, मैं क्षुल्लक श्रावक हूं, मैं ब्रह्मचारी हूं, मैं धर्मात्मा गृहस्थ हू। ऐसा करनेसे उसके भेषमे व व्यवहारमे ही मुनिपना या गृहस्थ-पना मान लिया सो ठीक नही है। शुद्धात्मानुभव ही मुनिपना है। वही श्रावकपना है, वही जिनधर्म है, ऐसा समझकर ज्ञानीको शरीराश्रित क्रियामे अहंकार न करना चाहिये। जो निश्चय-नयकी प्रधानतासे अपनेको सिद्ध भगवानके समान शुद्ध तीन कालके सर्व कर्म रहित, विभाव रहित, विकल्प रहित, मतिज्ञानादि भेद रहित, एक सहज ज्ञान या आनदका समूह मानकर सर्व अन्य भावोंसे उदास होजायगा वही निर्वाणमार्गपर आरूढ समझा जायगा।

भावपाहुडमें कहा है—

जीवविमुक्को सवओ दंसणमुक्को य होइ चलसवओ ।
सवओ लोयअपुज्जो लोउत्तरयम्मि चलसवओ ॥ १४३ ॥
जह तारयण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं ।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावयदुविहधम्माणं ॥ १४४ ॥

भावार्थ—जीव रहित मुर्दा होता है। आत्मदर्शनरूप सम्यक्तके विना प्राणी चलता हुआ मुर्दा है। मुर्दा लोकमे माननीय नहीं होता, जला दिया जाता है। चलनेवाला व्यवहार चारित्रवान मुर्दा परमार्थमे अपूज्य है। जैसे नक्षत्रोंमे चन्द्रमा शोभता है, पशुओंमे सिंह शोभता है वैसे मुनि व श्रावक दोनोंके धर्ममे **सम्यग्दर्शन** शोभता है। इस आत्मानुभवके विना सर्व व्यवहार मलीन ही है।

सारसमुच्चयमे कहा है—

ज्ञानभावनया जीवो लभते हितमात्मनः ।
विनयाचारसम्पन्नो विषयेषु पराङ्मुखः ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो जीव पांचों इन्द्रियोंके विषयोंमे उदास होकर धर्मकी विनय व धर्मके आचारसे युक्त होकर आत्मज्ञानकी भावना करता है वही अपने आत्माका हित कर सकता है।

आपसे आपको ध्याओ ।

अप्पा अप्पइ जो मुणइ जो परभाव चएइ ।
सो पावइ सिवपुरिगमणु जिणवर एउ भणेइ ॥ ३४ ॥

अन्वयार्थ—(जो परभाव चएइ) जो परभावको छोड देता है (जो अप्पइ अप्पा मुणइ) व जो अपनेसे ही अपने आत्माका अनुभव करता है (सो सिवपुरिगमणु पावइ) वही मोक्षनगरमें पहुच जाता है (जिणवर एउ भणेइ) श्री जिनेन्द्रने यह कहा है।

भावार्थ—आत्माको आत्माके द्वारा ग्रहण कर जो निश्चल होकर आत्माका अनुभव करता है वही आत्माका दर्शन करता हुआ कर्मकी निर्जरा करता है व मोक्षनगरमे शीघ्र ही पहुच जाता है। जब आत्मा अपने मूल स्वभावको लक्ष्यसे लेकर ग्रहण करता है तब सर्व ही पर भावोका सर्व त्याग होजाता है। जैसे कोई स्त्री परके घरोंमें जाया करती थी, जब वह अपने ही घरसे बैठ गई तब पर घरोंका गमन स्वय बंद होगया।

जितना कुछ प्रपच या विकल्प परद्रव्योंके सम्बधसे होता है यह सब पर भाव है। कर्मोंके उदयसे जो भावकर्म रागादि शुभ या अशुभ होता है व नोकर्म शरीरादि होते है वे सब परभाव है। चौदह गुणस्थान व चौदह मार्गणाओंके भेद तब ही संभव है जब कर्म सहित आत्माको देखा जावे। अकेले कर्म रहित आत्मामे इन सबका दर्शन नही होता हे। अपने आत्माके सिवाय अन्य आत्माए संसारी व सिद्ध तथा सर्व ही पुद्गल परमाणु या स्कंध, तथा धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, कालाणु व आकाश ये सब परभाव है। मनके भीतर होनेवाले मानसिक विकल्प भी परभाव है। आत्मा निर्विकल्प है, अभेद है, असग है, निर्लेप है, निर्विकल्प भावमें ही ग्रहण होता है।

भूत, भविष्य, वर्तमान तीन काल सम्बंधी सर्व कर्मोंसे व विकल्पोंसे आत्माको न्यारा देखना चाहिये। यद्यपि आत्मा अनंतगुण व पर्यायोंका समुदाय है तौभी ध्यानके समय उसके गुण गुणी भेदोंका विचार भी वंद करदेना चाहिये। आत्माके स्वाद लेनेमे एकाग्र होजाना चाहिये। बाहरी निमित्त इसीलिये मिलाए जाते हैं कि मनकी चचलता मिटे, मन क्षोभित न हो। मनमे चिंताऐ घर न करें। निर्ग्रंथ साधुको ही शुद्धोपयोगकी भलेप्रकार प्राप्ति होती है, क्योंकि उसका मन परिग्रहकी चिन्तासे व आरम्भके झंझटसे अलग है। बिलकुल एकांत

सेवन, निरोग शरीर, शीत, उष्ण, दंशमशककी बाधाका सहन; ये सब निमित्त कारण ध्यानमे उपयोगी है। अभ्यास प्रारंभ करनेवालोंको परीषह न आवे इस सम्हालके साथ ध्यान करना होता है। जब अभ्यास बढ जाता है तब परीषहोंके होनेपर निश्चल रह सक्ता है। साधकको पूर्णपने अपने ही भीतर रमण करना चाहिये, यही निर्वाणका मार्ग है। **समाधिशतकमे** कहा है—

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥ २० ॥
येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥२३॥
यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुन।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसवेद्यमस्म्यहम् ॥ २४ ॥
क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मा प्रपश्यत।
बोधात्मानं तत. कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रिय· ॥ २५ ॥

भावार्थ—जो न ग्रहण करने योग्य परभाव है या परद्रव्य है उनको ग्रहण नहीं करता है व जो अपने गुणका स्वभाव है जिनको सदा ग्रहण किये हुये है उनका कभी त्याग नहीं करता है, किंतु जो सर्व प्रकारसे सर्वको जानता है वही मै अपनेसे आप अनुभव करने योग्य हू। जिस आत्मीक स्वरूपसे मैं अपने आत्माको आत्माके भीतर आत्माके द्वारा आत्मारूप ही अनुभव करता हू वही मैं हूं। न मै पुरुष हूं, न स्त्री हू, न नपुसक हूं, न एक हूं, न दो हू, न बहुत हू।

जिस स्वरूपको न जानकर मै अनादिसे सोरहा था व जिसको जानकर मैं अब जाग उठा वह मैं अतीन्द्रिय, नाम रहित, केवल स्वसंवेदन योग्य हू। जब मैं यथार्थ तत्वदृष्टिसे अपनेको ज्ञान स्वरूप

गोम्मटसार जीवकांडमे कहा है—

छप्पंचणवविहाणं अत्थाणं जिणवरोवइट्ठाणं ।
आणाए अहिगमेण य सद्दहणं होइ सम्मत्तं ॥ ५६० ॥

भावार्थ—जिनेन्द्र भगवानके उपदेशके अनुसार छः द्रव्य, पांच अस्तिकाय, नव पदार्थोंका श्रद्धान आज्ञा मात्रसे या शास्त्रोंके पठन पाठन व न्यायकी युक्तिसे समझकर करना व्यवहारनयसे सम्यक्त है।

उवजोगो वण्णचऊ लक्खणमिह जीवपोग्गलाणं तु ।
गदिठाणोग्गहवत्तणकिरियुवयारो दु धम्मचऊ ॥ ५६४ ॥

भावार्थ—उपयोग ज्ञान दर्शन लक्षणका धारी जीव द्रव्य है। स्पर्श रस गध वर्ण लक्षणधारी पुद्गल द्रव्य है। जीव पुद्गलके गमनमे उदासीन रूपसे सहकारी धर्मद्रव्य है। जीव द्रव्यको ठहरनेमे सहकारी अधर्म द्रव्य है। सर्व द्रव्योंको स्थान देनेवाला अवकाश द्रन्य है। द्रव्योंके पलटनेमे निमित्त कारण काल द्रव्य है। इसतरह छः द्रव्योंका भरा यह लोक है। जो सत् हो, सदा ही रहे उसको द्रव्य कहते है। जीव द्रव्य उपयोग सहित है, ज्ञाता दृष्टा है, यह बात प्रगट है—

शरीरादि पुद्गल रचित हे उनकी सत्ता भी प्रत्यक्ष प्रगट है। शेष चार द्रव्य अमूर्तीक हैं, इनकी सत्ता अनुमानसे प्रगट है। जीव पुद्गल चार कार्य करते है उनमे उपादान कारण वे स्वयं है, निमित्त कारण शेप चार द्रव्य है। गमन सहकारी लोकाकाश व्यापी धर्मद्रव्य है, ठहरनेमे सहकारी लोकाकाशव्यापी अधर्म द्रव्य है। अवकाश देनेवाला आकाश है, परिवर्तन करानेवाला कालाणु द्रव्य है जो असंख्यात है। एक एक आकाशके प्रदेश पर एक एक कालाणु है। जीव अनत हैं, पुद्गल अनंत है, अनंत आकाशके मध्य लोक है। लोकमे सर्वत्र शेष पांच द्रव्य है। सूक्ष्म पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति सर्वत्र

है। बादर एकेन्द्रियादि कहीं कही है। परमाणु व स्कंध रूप पुद्गल सर्वत्र है।

इन छः द्रव्योंका अस्तित्व कभी मिट नहीं सकता है। उनके भीतर ससारी जीव कर्मबध सहित अशुद्ध हैं। उनको भी जब शुद्ध निश्चय नयकी दृष्टिसे देखा जावे तो वे शुद्ध ही झलकते है। इस दृष्टिसे पुद्गल द्रव्य भी परमाणुरूप शुद्ध दिखता है। समताभाव लानेके लिये इन छहों द्रव्योंको मूल स्वभावसे शुद्ध अलग२ देखना चाहिये। तब राग द्वेष नहीं रहेगे।

समाधिशतकमे कहाहै—

यस्य सस्पन्दनाभाति निःस्पन्देन समं जगत्।
अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः॥ ६७॥

भावार्थ—यह चलता फिरता जगत भी जिसकी दृष्टिमें शुद्ध निश्चयनयके बलमे चलन रहित थिर, विकल्प रहित निर्विकल्प क्रिया व भोगरहित निर्विकल्प दिखता है वह समभावको प्राप्त करता है। मोक्षमार्ग पर चलनेवालेके छः द्रव्योंकी सत्ताका पक्का निश्चय होना चाहिये, तब भ्रम रहित ज्ञान होगा, तब परद्रव्य व परभावोंसे उदास होकर स्वद्रव्यमे प्रवृत्ति हो सकेगी।

सात तत्व है—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। जीव तत्वमे सर्व अनन्त जीव आगए। अजीव तत्वमें शेष पांच द्रव्य आगए। कालाणु एक एक प्रदेशपर होनेसे कायरहित है। शेष पांच द्रव्य बहुप्रदेशी हैं। परमाणुमे मिलनेकी शक्ति है इसलिये कालको छोडकर शेष पांच द्रव्योंको अस्तिकाय कहते है।

कर्मवर्गणाओके आनेको आस्रव व कार्मण शरीरके साथ बन्धनेको बन्ध कहते है। ये दोनों आस्रव व बन्ध एक साथ एक समयमे होते है। इसलिये दोनोंके कारण भाव एक ही है। मिथ्या-

दर्शन पांच प्रकार, अविरति हिसादि पांच प्रकार या पांच इन्द्रिय व मनको वश न रखना तथा छः कायकी दया न पालना, इस-तरह बारह प्रकार, कषाय पच्चीस प्रकार, योग पद्रह प्रकार सब सत्तावन आस्रव व बन्धके कारणभाव है।

संक्षेपमे **योग** व **कषाय**से आस्रव व बन्ध होते है। मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे जब आत्माके प्रदेश सकम्प होते है तब योगशक्तिसे कर्मवर्गणाए खिचकर आती है व बन्ध जाती है। ज्ञानावरणादि प्रकृतिरूप बन्धन प्रकृतिबन्ध है। कितनी संस्था बन्धी सो प्रदेशबन्ध है। इन दो प्रकार बन्धका हेतु योग है। कर्मोंमे स्थिति पडना स्थितिबन्ध है। फलदान शक्ति पडना अनुभाग बन्ध है। ये दोनों बन्ध कषायसे होते है।

कर्मोंके आस्रवके रोकनेको सवर कहते है। उनका उपाय आस्रव विरोधी भावोंका लाभ है। सम्यग्दर्शन, अहिसादि पांच व्रत, कषायरहित वीतरागभाव व योगोंका स्थिर होना सवरभाव है।

पूर्व बाधे हुये कर्मोंका एकदेश गिरना निर्जरा है। फल देकर गिरना सविपाक निर्जरा है। विना फल दिये समयसे पूर्व झडना अविपाक निर्जरा है। उसका उपाय तप या ध्यान है। सवर व निजराके द्वारा सर्व कर्मोंसे रहित होजाना मोक्ष है। इन सात तत्वोंमे पुण्य पाप मिलानेसे नौ पदार्थ होजाते है। पुण्य पाप आस्रव व बध तत्वोंमे गर्भित है। व्यवहार नयसे इन नौ पदार्थोंमे जीव, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये चार ही ग्रहण करने योग्य है, शेष पांच त्यागने योग्य है। निश्चयनयसे एक अपना शुद्ध जीव ही ग्रहण करने योग्य है।

समयसारमे कहा है—

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्यपावं च।
आसवसंवरणिज्जरबन्धो मोक्खो य सम्मत्तं॥ १५॥

आत्माका स्वभाव नहीं। आत्मा द्रव्यको मात्र द्रव्यरूप अखण्ड सिद्ध भगवानके समान शुद्ध देखना चाहिये। व ऐसा ही अनुभव करना चाहिये। परम मुनि ही शुद्धात्माके ध्यानमें शीघ्र ही भव-सागरसे पार होजाते हैं।

मोक्षके कारणकलापमे वज्रवृषभनाराच सहननका होना जरूरी है। विना इसके ऐसा वीर्य नहीं प्रगट होता कि क्षपकश्रेणीपर चढ सके व घातीयकर्मका क्षय करके केवलज्ञानी होसके। परिग्रहत्यागी निर्ग्रंथ मुनि ही मोक्षके योग्य ध्यान करसक्ते है। इसलिये २४प्रकारके परिग्रह-का होना निषेधा है। क्षेत्र, घर, धन, धान्य, चादी सुवर्ण, दासी, दास, कपडे, वर्तन ये दश प्रकार बाहरी परिग्रह है। ये विलकुल पर हैं इनको त्यागा जासक्ता है, तब बाहरी परिग्रहकी चिंता मनको नहीं सताएगी। अन्तरग परिग्रह चौदह प्रकार है। मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुवेद, नपुसकवेद। इनकी ममता बुद्धिपूर्वक छोडी जाती है।

कर्मोदयसे यदि कोई विकार होता है तो उसको ग्रहण योग्य मानके ज्ञानी साधु स्वागत नहीं करते है, यही परिग्रहका त्याग है। बालकके समान नग्न रहकर जो साधु अप्रमत्त गुणस्थानके साति-शय भावको प्राप्त होकर व क्षायिक सम्यक्तसे विभूषित होकर क्षपक-श्रेणी चढकर शुक्लध्यान ध्याते हैं वे ही उसी भवसे निर्वाण लाभ कर लेते हैं। बाहरी चारित्र निमित्त है, शुद्ध अनुभव रूप परम सामा-यिक या यथाख्यातचारित्र उपादान कारण है। निमित्तके होनेपर उपादान उन्नति करता है। परतु साधककी दृष्टि अपने ही उपादान-रूप आत्मीक भाव ही पर रहती है। तात्पर्य यह है कि व्यवहार सम्यक्तके कारणोंमे भी एक सारभूत अपने ही शुद्धात्माका ग्रहण कार्यकारी है। **समयसारकलशामे** कहा है—

अन्वयार्थ—(जिणसामी एहउ भणइ) जिनेन्द्र भगवान ऐसा कहते है (जइ सहुववहारु छंडवि णिम्मलु अप्पा मुणहि) यदि तू सर्व व्यवहार छोडकर निर्मल आत्माका अनुभव करेगा (लहु भवपारु पावहु) तो शीघ्र भवसे पार होगा।

भावार्थ—यहां जिनेन्द्र भगवानकी यही आज्ञा है व यही उपदेश बताया है कि निर्मल आत्माका अनुभव करो। यह अनुभव तब ही होगा जब सर्व परके आश्रव व्यवहारका मोह त्यागा जायगा, पर पदार्थका परमाणु मात्र भी हितकारी नही है। व्यवहार धर्म, व्यवहार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रका जितना विषय है वह सब त्यागनेयोग्य है। सम्यग्दृष्टी चाहे गृहस्थ हो या साधु, केवल अपने शुद्ध आत्माको ही अपना हितकारी जानता है। शेष सर्वको त्यागने-योग्य परिग्रह जानता है।

यद्यपि वह मनके लगानेको व ज्ञानकी निर्मलताके लिये सात तत्वोंका विचार करता है, जिनवाणीका पठनपाठन मनन उपदेश करता है, अहिसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रहत्याग पाच व्रतोंको एकदेश या सर्वदेश पालता है, मन्त्रोंका जप करता है, उपवास करता है, रसत्याग करता है तौ भी इन सब कार्योंको व्यवहार धर्म जानके छोडनेयोग्य समझता है, क्योंकि व्यवहारके साथ राग करना कर्मबंधका कारण है। केवल अपनी आत्माकी विभूति–ज्ञानानन्द सम्पदाको अपनी मानके ग्रहण किये रहता है। सर्व चेतन, अचेतन व मिश्र परिग्रहको त्यागनेयोग्य समझता है। सिद्धोंका ध्यान करता है तौ भी सिद्धोंको पर मानके उनके ध्यानको भी त्यागनेयोग्य जानता है, क्योंकि वहां भी शुभ रागका अंश है। और तो क्या, गुणगुणी भेदका विचार भी परिग्रह है, व्यवहार है, त्यागनेयोग्य है, क्योंकि इस विचारमें विकल्प है। विकल्प है वहा

शुद्धभाव नहीं। यद्यपि इस विचारका आलम्बन दूसरे शुक्ल ध्यान तक है तथापि सम्यग्दृष्टी इस आलम्बनको भी त्यागने योग्य जानता है।

सम्यक्तीका देव, गुरु, शास्त्र, घर, उपवन सब कुछ एक अपना ही शुद्धात्मा है, वही आसन है, वही शिला है, वही पर्वतकी गुफा है, वही सिहासन है, वही शय्या है। ऐसा असंग भाव व शुद्ध श्रद्धान जिसको होता है वही सम्यग्दृष्टी ज्ञानी है, वही उस नौका पर आरूढ़ है जो ससारसागरसे पार करनेवाली है। व्यवहारके मोहसे कर्मका क्षय नही होगा। जो अहंकार करे कि मैं मुनि, मैं तपस्वी वह व्यवहारका मोही मोक्षमार्गी नहीं है। यद्यपि मुनिका नग्न भेष व श्रावकका सवस्त्र भेष निमित्त कारण है तथापि मोक्षका मार्ग तो एक रत्नत्रय धर्म ही है। **समयसार**मे कहा है—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारे ण विदुसा पवट्ठन्ति।
परमट्ठमस्सिदाणं दु जदीण कम्मक्खओ होदि ॥ १६३ ॥

भावार्थ—ज्ञानीजन निश्चय पदार्थको छोड़ कर व्यवहारके भीतर नही प्रवर्तते है। व्यवहारसे मोह नहीं रखते है। क्योंकि जो साधु परमार्थका या अपने शुद्धात्माका आश्रय करते है उन्हींके कर्मोंका क्षय होता है।

पाखंडियलिंगेसु व गिहलिंगेसु व वहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्ति तेहिं ण णादं समयसारं ॥ ४३५ ॥

भावार्थ—जो कोई साधुके भेषमें या व्यवहार चारित्रमे या नाना प्रकारके श्रावकके भेषमे या व्यवहार चारित्रमें ममताभाव करते हैं उन्होंने समयसार जो शुद्धात्मा उसको नहीं जाना है।

मोक्षपाहुडमे कहा है—

बाहिरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहियपरियम्मो ।
सो सगचरित्तभट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू ॥ ६१ ॥

भावार्थ—जो बाहरी भेष व चारित्र सहित है परन्तु भीतरी आत्मानुभवरूप चारित्रसे रहित है, वह स्वचारित्रसे भ्रष्ट होता हुआ मोक्षमार्गका विनाशक है ।

जीव अजीवका भेद जानो ।

सोरठा—जीवाजीवहँ भेउ जो जाणइ तिं जाणियउ ।
मोक्खहँ कारण एउ भणइ जोइ जोइहिं भणिउ ॥ ३८ ॥

अन्वयार्थ—(जोइ) हे योगी ! (जोइहि भणिउ) योगियोंने कहा है (जीवाजीवहँ भेउ जो जाणइ) जो कोई जीव तथा अजीवका भेद जानता है (ति मोक्खहँ कारण जाणियउ) उसीने मोक्षका मार्ग जाना है (एउ भणइ) ऐसा कहा गया है ।

भावार्थ—बन्ध व मोक्षका व्यवहार तब ही सम्भव है जब दो भिन्न २ वस्तुए हों, वे बन्धती व खुलती हों । गाय रस्सीसे बधी है, रस्सी छूट जानेपर गाय छूट गई । यदि अकेली गाय हो या अकेली रस्सी हो तो गायका बन्धना व छूटना हो नहीं सकता, उसी तरह यदि लोकमे जीव ही अकेला होता, अजीव न होता तो जीव कभी बन्धता व खुलता नहीं ।

ससारदशामे जीव अजीवका बंध है तब मोक्षदशामे जीवका अजीवसे छूटना होता है। दो प्रकारके भिन्न२ द्रव्य यदि लोकमे नहीं होते तो संसार व मोक्षका होना सभव नहीं था। यह लोक छः द्रव्यों-का समुदाय है, उनमे जीव सचेतन है। शेष पांच अचेतन या अजीव हैं । इनमे चार द्रव्य तो बंध रहित शुद्ध दशामे-सदा मिलते हैं ।

धर्म द्रव्य, अधर्मद्रव्य, काल व आकाश इनके सदा स्वभाव परिणमन होता है। जीव व पुद्गलमे ही विभाव परिणमनकी शक्ति है। जीव पुद्गलके बंधमें जीवमें विभाव होते हैं। जीवके विभावके निमित्तसे पुद्गलमे विभाव परिणमन होता है। पुद्गल स्वयं भी स्कंध बनकर विभाव परिणमन करते है। हरएक संसारी जीव पुद्गलसे गाढ बंधन रूप होरहा है। तैजस व कार्मणका सूक्ष्म शरीर अनादिसे सदा ही साथ रहता है। इनके सिवाय औदारिक शरीर, वैक्रियिक शरीर व आहारक शरीर व भाषा व मनके पुद्गलोंका संयोग होता रहता है।

यह जीव पुद्गलकी संगतिमे ऐसा एकमेक होरहा है कि यह अपनेको भूल ही गया है। कर्मोंके उदयके निमित्तसे जो रागादि भावकर्म व शरीरादि नोकर्म होते हैं उन रूप ही अपनेको मानता रहता है। पुद्गलके मोहमें उन्मत्त होरहा है इसीसे कर्मका बंध करके बंधनको बढाता है व कर्मोंके उदयमे नानाप्रकार फल भोगता है। सुख तो रंचमात्र है, दुःख बहुत है।

जन्म, मरण, जरा, इष्टवियोग, अनिष्ट संयोगका अपार कष्ट है, तृष्णाकी दाहका अपार दुःख है। जब श्रीगुरुके प्रसादसे या शास्त्रके प्रवचनसे इसको यह भेदविज्ञान हो कि मै तो द्रव्य हूं, मेरा स्वभाव परम शुद्ध निरंजन निर्विकार, अमूर्तीक, पूर्ण ज्ञान दर्शनमई व आनंदमई है, मेरे साथ पुद्गलका संयोग मेरा रूप नहीं है, मैं निश्चयसे पुद्गलसे व पुद्गल कृत सर्व रागादि विकारोंसे बाहर हूं, पुद्गलका सम्बन्ध दूर करना योग्य है, मोक्ष प्राप्त करना योग्य है, इस तरह जब भेदविज्ञान हो व पुद्गलसे पक्का वैराग्य हो तब मोक्षका उपाय हो सक्ता है। तब यह दृढ बुद्धि हो कि कर्मोंके आस्रव बंध दुःखके मूल है। इनको छोड़ना चाहिये व मोक्षके कारण, संवर व निर्जरा हैं, इनका उपाय करना चाहिये। ऐसी प्रतीति होनेपर ही

मोक्षका उपाय हो सकेगा। जो यह पक्का जानेगा कि मैं रोगी हूं, रोगका कारण यह है, वही रोगके कारणोंसे बचेगा व विद्यमान रोगके निवारणके लिये औषधका सेवन करेगा। इसलिये मूलसूत्रमे कहा है कि जीव व अजीवके भेदका ज्ञान मोक्षका कारण है।

तत्वानुशासनमे कहा है—

तापत्रयोपतप्तेभ्यो भव्येभ्यः शिवशर्मणे।
तत्त्वं हेयमुपादेयमिति द्वेधाभ्यधादसौ ॥ ३ ॥
बंधो निबंधनं चास्य हेयमित्युपदर्शितं।
हेयं स्याद्दुःखसुखयोर्यस्माद्बीजमिदं द्वयं ॥ ४ ॥
मोक्षस्तत्कारणं चैतदुपादेयमुदाहृतं।
उपादेयं सुखं यस्मादस्मादाविर्भविष्यति ॥ ५ ॥

भावार्थ—जन्म, जरा, मरण तीन प्रकारके संतापसे दुःखी होकर भव्य जीवोंको परमानन्दमय मोक्ष सुखका लाभ हो इसलिये सर्वज्ञ देवने हेय या उपादेय दो प्रकार तत्व कहा है। बन्ध व उसके कारण मिथ्यात्वादि आस्रव भाव त्यागनेयोग्य है, क्योंकि ये ही त्यागनेयोग्य सांसारिक दुःख सुखके बीज हैं। मोक्ष व उसके कारण संवर व निर्जराभाव ग्रहणयोग्य है, क्योंकि इनके द्वारा सच्चा सुख जो ग्रहणयोग्य है सो प्रगट होगा। **समयसार कलश**मे कहा है—

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं,
ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तं।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं,
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ॥ ११-२॥

भावार्थ—जीवसे अजीव लक्षणसे ही भिन्न है इसलिये ज्ञानी

जीव अपनेको सर्व रागादिसे व शरीरादिसे भिन्न ज्ञानमय प्रकाशमान एकरूप अनुभव करता है। आश्चर्य व खेद है कि अज्ञानी जीवमें अनादिकालसे यह मोहभाव क्यों नाच रहा है जिससे यह अजीवको अपना तत्व मान रहा है। दो द्रव्योंको न्यारे न्यारे नहीं देखता है इसीसे संसार है।

आत्मा केवलज्ञानस्वभावधारी है।

केवल-णाण-सहाउ सो अप्पा मुणि जीव तुहुं।
जइ चाहहि सिव-लाहु भणइ जोइ जोइहिं भणिउँ ॥२९॥

अन्वयार्थ—(जोइ) हे योगी! (जोइहिं भणिउं) योगियोंने कहा है (तुहुं केवल-णाण-सहाउ सो अप्पा जीव मुणि) तू केवलज्ञान स्वभावी जो आत्मा है उसे ही जीव जान (जइ सिव-लाहु चाहहि) यदि तू मोक्षका लाभ चाहता है (भणइ) ऐसा कहा गया है।

भावार्थ—हरएक आत्माको जब निश्चयनयसे या पुद्गलके स्वभावसे देखा जावे तब देखनेवालेके सामने अकेला एक आत्मा सर्व परके संयोग रहित खडा होजायगा। तब वहां न तो आठों कर्म दीखेंगे न शरीरादि नो कर्म दीखेंगे, न रागद्वेषादि भावकर्म दीखेंगे। सिद्ध परमात्माके समान हरएक आत्मा दीखेगा। यह आत्मा वास्तवमें अनुभवसे पर है। तथापि समझनेके लिये कुछ विशेष गुणोंके द्वारा अचेतन द्रव्योंसे जुदा करके बताया गया है। छः विशेष गुण ध्यान देनेयोग्य हैं।

(१) ज्ञान—जिस गुणके द्वारा यह आत्मदीपकके समान आपको व सर्व जाननेयोग्य द्रव्योंकी गुणपर्यायोंको एकसाथ क्रम-

रहित जानना है, इसीको केवलज्ञान-स्वभाव कहते हैं। इन्द्रियोंकी व मनकी सहायता बिना सकल प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान आवरण रहित सूर्यकी भांति प्रकाशता है। उनके द्वारा अन्य गुणोंका प्रतिभास होता है। इसीको सर्वज्ञपना कहते हैं। हरएक आत्मा स्वभावसे सर्वज्ञ है।

(२) दर्शन—जिस गुणके द्वारा सर्व पदार्थोंके सामान्य स्वभावको एकसाथ देखा जासके वह केवलदर्शन स्वभाव है। वस्तु सामान्य विशेषरूप है, सामान्य अंशको ग्रहण करनेवाला दर्शन है विशेषको ग्रहण करनेवाला ज्ञान है।

(३) सुख—जिस गुणके द्वारा परम निराकुल अद्वितीय आनन्दामृतका निरन्तर स्वाद लिया जावे। हरएक आत्मा अनन्त सुखका सागर है, यहा कोई सांसारिक नाशवन्त पदार्थके द्वारा होनेवाला सुख व ज्ञान नहीं है। जैसे लवणकी डली खाररससे व मिश्रीकी डली मिष्टरससे पूर्ण है वैसे ही हरएक आत्मा परमानन्दसे पूर्ण है।

(४) वीर्य—जिस शक्तिसे अपने गुणोंका अनंत कालतक भोग या उपभोग करते हुए खेद व थकावट न हो, निरतर सहज ही शांतरसमें परिणमन हो, अपने भीतर किसी बाधकका प्रवेश न हो। हरएक आत्मा अनन्तवीर्यका धनी है। पुद्गलमे भी वीर्य है, अशुद्ध आत्माका घात करता है तथापि आत्माका वीर्य उससे अनतगुणा है, क्योंकि कर्मोंका क्षय करके परमात्मा पद आत्म वीर्यसे ही होता है।

(५) चैतनत्व—चेतनपना, अनुभवपना "चैतन्यं अनुभवनं" (आलाप पद्धति) अपने ज्ञान स्वभावका निरतर अनुभव करना, कर्मका व कर्मफलका अनुभव नहीं करना। ससारी आत्मा रागी द्वेषी होते है अतएव राग द्वेषपूर्वक शुभ व अशुभ काम करनेमे तन्मय रहते है या कर्मके फलको भोगते हुए सुख दुःखमे तनमय होजाते हैं।

कर्म रहित शुद्ध आत्मामें मात्र एक **ज्ञानचेतना** है ज्ञानानन्दका ही अनुभव है।

(६) **अमूर्तत्व**—यह आत्मा यद्यपि असंख्यात प्रदेशी एक अखड द्रव्य है तथापि यह स्पर्श, रस, गंध, वर्णसे रहित अमूर्तीक है। इन्द्रियोंके द्वारा देखा नहीं जासक्ता है। आकाशके समय निर्मल आकारधारी ज्ञानाकार है। इन छः विशेप गुणोंसे यह आत्मा पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, कालाणु व आकाश इन पांच अचेतन द्रव्योंसे भिन्न झलकता है। हरएक आत्मा स्वभावसे परम वीतराग शात निर्विकार है, अपनी ही परिणतिका कर्ता व भोक्ता है, परका कर्ता व भोक्ता नहीं। हरएक आत्मा परम शुद्ध परमात्मा परम समदर्शी है।

इस तरह जो अपने आत्माको व परकी आत्माओंको अर्थात् विश्वकी सर्व आत्माओंको देखता है वहां पूर्ण स्वाभाविक या सम-भाव झलकता है। यही समभाव चारित्र है, ध्यान है, भावसंवर है भाव निर्जरा है, यही कर्म क्षयकारी भाव है, यही निर्जराका उपाय है। योगियोंने, परम ऋषियोंने व अरहंतोंने स्वयं अनुभव करके यही बताया है। मुमुक्षुको सदा ही अपने आत्माका ऐसा शुद्ध ज्ञान रखना चाहिये। **समयसार कलशामे** कहा है—

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमवाधितम्।
जीव· स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥ ९-२ ॥

भावार्थ—यह जीव अनादिसे अनंतकाल तक रहनेवाला है, चचलता रहित निश्चल है, स्वयं चेतनामई है, स्वानुभवगोचर है, सदा ही चमकनेवाला है। **तत्वानुशासनमे** कहा है—

स्वरूपं सर्वजीवानां स्वपरस्य प्रकाशनं।
भानुमंडलवत्तेषां परस्मादप्रकाशनं ॥ २३५ ॥

न मुह्यति संशेते न स्वार्थानध्यवस्यति ।

न रज्यते न च द्वेष्टि किंतु स्वस्थ. प्रतिक्षणं ॥२३७॥

भावार्थ—सर्व जीवोंका स्वभाव आत्माका व परपदार्थोंका सूर्यमण्डलकी तरह विना दूसरेकी सहायतासे प्रकाश करता है। हर-एक आत्मा स्वभावसे सशयवान नही होता है, अनध्यवसाय या ज्ञानके आलस्य भावको नहीं रखता है न मोह या विपरीत भावको रखता है, सशय विमोह अनध्यवसाय रहित है, न तो राग करता है न द्वेष करता है। किंतु प्रति समय अपने ही भीतर मगन रहताहै।

ज्ञानीको हरजगह आत्मा ही दिखता है।

को सुसमाहि करउ को अंचउ, छोपु-अछोपु करिवि को वंचउ।

हल सहि कलहु केण समाणउ, जहिं कहिं जोवउ तहिं अप्पाणउ ॥४०

अन्वयार्थ—(**को सुसमाहि करउ**) कौन तो समाधि करे (**को अंचउ**) कौन अर्चा या पूजन करे (**छोपु-अछोपु करिवि**) कौन स्पर्श अस्पर्श करके (**को वंचउ**) कौन वचना या मायाचार करे (**केण सहि हल कलहु समाणउ**) कौन किसके साथ मैत्री व कलह करे (**जहि कहि जोवउ तहि अप्पाणउ**) जहां कहीं देखो वहा आत्मा ही आत्मा दृष्टिगोचर होता है।

भावार्थ—इस चौपाईमे बताया है कि निश्चयनयसे ज्ञानी जब देखता है तब उसे अपना आत्मा परम शुद्ध दीखता है, वैसे ही विश्वभरमे भरे सूक्ष्म व बादर शरीरधारी आत्माए भी सब परम शुद्ध दीखती है। इस दृष्टिमे नर नारक देव पशुके नाना प्रकारके भेद नहीं दिखते हैं, एक आत्मा ही आत्मा दिखता-है। ऐसा उस ज्ञानीके

भावोंमे समभाव झलक गया है। एक अद्वैत आत्माका ही अनुभव आरहा है। अनुभवके समय तो आपमें ही लीन है।

अनुभवकी माता भावना है। भावनाके समय उसे शुद्ध दृष्टिसे शुद्धात्मा ही दिखता है। इसका अभिप्राय यह नहीं लेना कि पुद्गलादि पांच द्रव्योंका अभाव होजाता है। जगत छः द्रव्योंका समुदाय है। ये द्रव्य सप्त सत् पदार्थ हैं, उनका कभी लोप नहीं होसकता। तथापि आत्मदर्शकका लक्ष्यबिन्दु एक आत्मा ही आत्मा है। इसलिये आत्मा ही आत्मा दिखता है। जैसे कोई खेतमें जावे और दृष्टि देखनेवालेकी चनेके दानेकी तरफ हो तो वह चनेके खेतमे चनोंको ही देखता है, वृक्षके पत्ते, शाखा, मूलादिको नहीं देखता है और कहता है कि इस खेतमे पांच मन चना निकलेगा।

बहुतसे सुवर्णके गहने मणिजडित हैं, जौंहरीके पास बिकनेको लेजाओ तब वह केवल मणियोंको देखता है, सुवर्णको नहीं ध्यानमे लेता, मणियोंकी ही कीमत करता है। उसी ही गहनेको सर्राफके पास लेजाओ तो वह मात्र सुवर्णको ही देखकर सुवर्णकी कीमत लगाता है। इसी तरह आत्मज्ञानीको हरजगह आत्मा ही आत्मा दीखता है, यही भाव सामायिक चारित्र है, यही श्रावकका सामायिक शिक्षाव्रत है।

जब आप परम शांत समभावी होगए तब साक्षात् कर्मके क्षयका कारण उपाय बन गया। फिर वहां और कल्पनाओंका स्थान नही रहा, न यह चिंता रही कि समाधिभाव प्राप्त करना है न यह चिन्ता रही कि पूजन पाठ करना है, न वह विचार ही कि शुद्ध भोजन करना है अशुद्ध नहीं करना है, अमुकके हाथका स्पर्शित करना है, अमुकके हाथका स्पर्शित नहीं करना है। राग द्वेष रूप भाव व्यवहारसे करना पडता है यह व्यवहार निश्चयकी अपेक्षा असत्य है, माया रूप है, मिथ्याभिमान है।

जब सर्व जीवोंको समान देख लिया तब किसके साथ मैत्री करें व किसके साथ कलह करे। रागद्वेष तो नाना भेद रूप दृष्टिमे ही होसक्ते है। सर्वको शुद्ध एकाकार देख लिया तब शत्रु व मित्रकी कल्पना ही न रही। सर्व व्यवहार धर्म कर्मसे दूर होगया। व्यवहार निमित्त साधनके द्वारा जो भाव प्राप्त करना था सो प्राप्त कर लिया। समभाव ही चारित्र है, समभाव ही धर्म है, समभाव ही परम तत्त्व है सो मिल गया। वह भव्यजीव कृतार्थ होगया, बंधकी परिपाटीसे छूट गया, निर्जराके मार्गमे आरूढ होगया। **सर्वार्थसिद्धिमे** कहा है–

एकत्वेन प्रथम गमन समय, समय एव सामयिकं, समय प्रवर्तानमस्येति वापिगृह्य सामायिकं ॥ अ० ७ सू० २१ ॥

भावार्थ—आत्माके साथ एकमेक होजाना आत्मामई होजाना सामायिक है। **सारसमुच्चयमे** कहा है—

समता सर्वभूतेषु य करोति सुमानस ।
ममत्वभावनिर्मुक्तो यात्यसौ पदमव्ययम् ॥ २१३ ॥

भावार्थ—जो सुबुद्धी सर्व प्राणी मात्रसे समभाव रखता है व ममतासे छूट जाता है वही अविनाशी पदको पाता है।

समाधिशतकमे कहा है—

दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते ।
इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम् ॥ ४४ ॥

भावार्थ—मूर्ख अज्ञानी इस दिखनेवाले जगतको, स्त्री, पुरुष, नपुंसक रूप तीन लिंगमय देखता है। ज्ञानी इस जगतको शब्द रहित परम शांत देखता है।

अनात्मज्ञानी कुतीर्थोंमें भ्रमता है।

ताम कुतित्थिइं परिभमइ धुत्तिम ताम करेइ।
गुरुहु पसाएं जाम णवि अप्पा-देउ मुणेइ ॥ ४१ ॥

अन्वयार्थ—(गुरुहु पसाएं जाम अप्पादेउ णवि मुणेइ) गुरु महाराजके प्रसादसे जब एक अपने आत्मारूपी देवको नही पहचानता है (ताम कुतित्थिइ परिभमइ) तबतक मिथ्या तीर्थोंमे घूमता है (ताम धुत्तिम करेइ) तब ही तक धूर्तता करता है।

भावार्थ—जबतक यह जीव अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टी है, संसारासक्त है तबतक इसको इष्ट इन्द्रियोंकी प्राप्तिकी कामना रहती है व बाधक कारणोंके मिटानेकी लालसा रहती है। मिथ्यामार्गके उपदेशकोंके द्वारा जिस किसीकी भक्ति व पूजासे व जहां कहीं जानेसे विषयोंके लाभमें मदद होनी जानता है उसकी भक्ति व पूजा करता है व उन स्थानोंमे जाता है। मिथ्या देवोंकी, मिथ्या गुरुओंकी मिथ्या धर्मोंकी, मिथ्या तीर्थोंकी खूब भक्ति करता है। नदी व सागरमे स्नानसे पाप नाश कर इष्टलाभ मान लेता है। खेल तमाशोमे विषय पोखते हुए धर्म मान लेता है। तीव्र प्रकारकी मूढतामें फंसा रहता है, जैसा श्री रत्नकरण्ड श्रावकाचारमे कहा है—

आपगासागरस्नानमुच्चय: सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥ २२ ॥

भावार्थ—नदी व सागरमे स्नान करनेसे, बालू व पत्थरोंके ढेर लगानेसे, पर्वतसे गिरनेसे, आगमे जलकर मरनेसे भला होगा मानना, पाप क्षय, पुण्य लाभ या मुक्ति मानना लोकमूढता है।

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसा:।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥ २३ ॥

भावार्थ—लौकिक फलकी इच्छासे आशावान होकर जो राग द्वेपसे मलीन देवताओंको पूजना सो देवमूढता है।

सग्रन्थारम्भहिंसाना संसारावर्तवर्तिनाम्।
पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम्॥ २४॥

भावार्थ—परिग्रहधारी, आरभ व हिंसा करने वाले, संसार-रूपी चक्रमे वर्तने व वर्ताने वाले साधुओंका आदर सत्कार करना सो पाखण्ड मूढता है।

लौकिक जन इन तीन प्रकारकी मूढताओंसे ठगे गए संसारा-सक्त बने रहते है। इनके लिये तन, मन, धन अर्पण करके बड़ी भक्ति करते हैं। धन, स्त्री, निरोगता आदि लाभके लोभसे पशुबलि तक देवी देवताओंके नामपर करते हैं। धूर्तता व खोटे पापबन्धक नदी सागरादि तीर्थोंमे भ्रमण तबतक यह अज्ञानी करता रहता है जबतक इसको सम्यग्दर्शनका प्रकाश नहीं है।

अपने ही आत्माको परमात्मा देव मानना व परमानदका प्रेमी होना, ससारके विपयोंसे वैराग्य होना, इन्द्र, चक्रवर्ती आदि लौकिक पदोंको अपर समझकर इनसे उदास होना, आत्मानुभवको ही निश्चय धर्म मानना सम्यग्दर्शन है। सम्यक्ती मुख्यतासे अपने आत्मादेव-की आराधना करता है। जब रागके उदयसे आत्मशक्ति नहीं हो सक्ती है तब वीतरागताके ही उद्देश्यसे अरहत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु इन पांच परमेष्टियोंकी भक्ति करता है, शास्त्रोंका मनन करता है, वैराग्य दायक व आत्मज्ञान जागृत करनेवाले उत्तम तीर्थोंकी यात्रा करता है।

संसारसे पार होनेवाले मार्गको तीर्थ व पार होनेका मार्ग बतानेवालोंको तीर्थंकर कहते है। ये तीर्थंकर या उनहीके समान अन्य मोक्षगामी महात्मा जहां जन्मते है, तप करते हैं, केवलज्ञान उपजाते

है व निर्वाण जाते है वे सब पवित्र स्थान आत्मधर्म रूपी तीर्थको स्मरण करानेके निमित्त होनेसे तीर्थ कहलाते है। जैसे अयोध्या, हस्तिनापुर, कांपिल्या, बनारस, सम्मेदशिखर, गिरनार, राजगृह, पावापुर इत्यादि। जहां कहीं विशेष ध्यानाकार प्राचीन प्रतिमा होती है वह भी वैराग्यके निमित्त होनेसे तीर्थ माना जाता है जैसे श्रवणबेलगोलाके श्री गोम्मटस्वामी, चांदनगांवके महावीरजी, सजोतके श्री शीतलनाथजी आदि।

आत्मज्ञानी ऐसे तीर्थोंका निमित्त मिलाकर आत्मानुभवकी शक्ति बढाना है। निश्चय तीर्थ अपना आत्मा ही है, व्यवहार तीर्थ पवित्र क्षेत्र है।

निज शरीर ही निश्चयसे तीर्थ व मंदिर है।

तित्थहिं देवलि देउ णवि इम सुइकेवलि वुत्तु।
देहादेवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिरुत्तु ॥४२॥

अन्वयार्थ—(सुइकेवलि इम वुत्तु) श्रुतकेवलीने ऐसा कहा है कि (तित्थहिं देवलि देउ णवि) तीर्थक्षेत्रोंमे व देव मन्दिरमे परमात्मा देव नहीं है (णिरुत्तु एहउ जाणि) निश्चयसे ऐसा जान कि (देहादेवलि जिणु देउ) शरीररूपी देवालयमे जिनदेव है।

भावार्थ—निश्चयसे या वास्तवमे यदि कोई परमात्मा श्री जिनेन्द्रका दर्शन या साक्षात्कार करना चाहे तो उसको अपने शरीरके भीतर ही अपने ही आत्माको शुद्ध ज्ञान दृष्टिसे शुद्ध स्वभावी सर्व भावकर्म, द्रव्य कर्म, नोकर्म रहित देखना होगा। कोई भी इस जगतमें परमात्माको अपनी चर्मचक्षुसे कहीं भी नहीं देख सक्ता है। न मंदिरमें न तीर्थक्षेत्रमें न गुफामें न पर्वतपर न नदी तीरपर न

किसी गुरुके पास न किसी शास्त्रके वाक्योंमे। अबतक जिसने परमात्माको देखा है अपने ही भीतर देखा है। वर्तमानमे परमात्माका दर्शन करनेवाले भी अपनी देहके भीतर ही देखते है, भविष्यमे भी जो कोई परमात्माको देखेगा वह अपने शरीररूपी मंदिरमे ही देखेंगे।

जब ऐसा निश्चय सिद्धांत है तब फिर मंदिरमें जाकर प्रतिमाका दर्शन क्यों करते है व तीर्थक्षेत्रोंपर जाकर पवित्र स्थान पर क्यों मस्तक नमाते है? इसका समाधान यह है कि ये सब निमित्त कारण है, जिनकी भक्ति करके अपने ही भीतर आत्मा देवको स्मरण किया जाता है। जो उच्च स्थिति पर पहुच गए हो कि हर समय आत्माका साक्षात्कार हो वे तो सातवेंसे आगे आठवें नौमे दशवे आदि गुणस्थानोंमे अन्तर्मुहूर्तमे चढ़कर केवलज्ञानी होजाते है। जो सविकल्प नीची अवस्थामे है, जिनके भीतर प्रमाद जनक कषायका तीव्र उदय सम्भव है, ऐसे देशसंयम गुणस्थान तक श्रावक गृहस्थ तथा प्रमत्तविरत गुणस्थानधारी साधु–इन सबका मन चञ्चल हो जाता है, तब बाहरी निमित्तोंके मिलनेपर फिर स्वरूपकी भावनाएं दृढ हो जाती है। इनके लिये श्री जिन मन्दिरमे प्रतिमाका दर्शन व तीर्थक्षेत्रोंकी वन्दना आत्मानुभव या आत्मीक भावनाके लिये निमित्त हो जाते है।

यहांपर यह बताया है कि कोई मूढ ऐसा समझ ले कि प्रतिमामे ही परमात्मा है या तीर्थक्षेत्रमे परमात्मा विराजमान है, उनके लिये यहां खुलासा किया है कि प्रतिमामे परमात्माकी स्थापना है या क्षेत्रोंपर निर्वाणादिके पदोकी स्थापना है। स्थापना साक्षात् पदार्थको नही बताती है किंतु उसका स्मरण कराती है व उसके गुणोंका भाव चित्रसे झलकाती है जिसकी वह मूर्ति है। बुद्धिमान कोई यह नहीं मान सक्ता कि ऋषभदेवकी प्रतिमामे ऋषभदेव हैं या

महावीरकी प्रतिमामे महावीर है। वह यही मानेगा कि वे प्रतिमाएं ऋषभ या महावीरके ध्यानमय स्वरूपको झलकाती है, उनके वैराग्यकी मूर्ति है।

इन मूर्तियोंके द्वारा उनहीका स्मरण होता है व मूर्तिको वन्दना करनेसे, व पूजन करनेसे जिसकी मूर्ति है उसीकी वन्दना या पूजा समझी जाती है। क्योंकि भक्तिका लक्ष्य उनपर रहता है, जिनकी वह मूर्ति है। लौकिकमे भी बड़े पुरुषोंके चित्रका आदर उनहीका आदर व उन चित्रोंका अनादर उनहीका अपमान समझा जाता है जिनका वह चित्र है। दर्शकके परिणाम भी मूर्तिके निमित्तसे बदल जाते है। वीतराग, तपदर्शक मूर्ति वैराग्य व रागवर्द्धक मूर्ति रागभाव उत्पन्न कर देती है। छठे गुणस्थानतकके भव्यजीव प्रतिमाओंकी व तीर्थक्षेत्रकी भक्ति करते है। उनकी भक्तिके बहाने व सहारेसे अपने ही आत्माकी भक्तिपर पहुच जाते हैं।

जो सम्यग्दृष्टी है—आत्मज्ञानी है, जो अपनी देहमे अपने ही आत्माको परमात्मारूप देख सकते है उनके लिये मंदिर, प्रतिमा, तीर्थक्षेत्र आत्माराधनमें प्रेरक होज़ाते है। जैसे ज्ञानकी वृद्धिमें शास्त्रोंके वाक्य प्रेरक होजाते है। ये सब बुद्धिपूर्वक प्रेरक नहीं हैं, किन्तु उदासीन प्रेरक निमित्त है।

तत्वार्थसारमे स्थापनाका स्वरूप है—

सोऽयमित्यक्षकाष्ठादे सम्बन्धेनान्यवस्तुनि ।
यद्व्यवस्थापनामात्रं स्थापना साभिधीयते ॥ ११-१ ॥

भावार्थ—लकडीकी गोठमे या अन्य वस्तुमे किसीको मान लेना कि यह अमुक है सो स्थापना निक्षेप है। जिसकी स्थापना करनी हो उसके उस भावको वैसी ही दिखानेवाली मूर्ति बनाना **तदाकार** स्थापना है। किसी भी चिह्नमे किसीको मान लेना **अतदाकार**

स्थापना है। जैसे चित्रपटमें किसी लकीरको नदी, किसी बिन्दुको पर्वत, किसी घेरको नगर आदि मान लेते हैं। स्थापना केवल संकेत करती है। कोई मूढ स्थापनाको साक्षात् मानकर नदीकी स्थापनारूप लकीरसे पानी लेना चाहे तो पानी नहीं मिलेगा। क्योंकि लकीरमें साक्षात् नदी नहीं है।

कोई साधुकी मूर्तिको देखकर प्रश्न करना चाहे तो उत्तर नहीं मिल सकता। क्योंकि वहां साक्षात् साधु नहीं है, साधुका आकार-प्रदर्शक चित्र है। तात्पर्य यह है कि मंदिर व तीर्थमें साक्षात् परमात्माका दर्शन नहीं होगा। परमात्मा जिनदेवका दर्शन तो अपने ही आत्माको आत्मारूप यथार्थ देखनेसे होगा।

परमात्मप्रकाशमें भी कहा है—

देहा देउलि जो वसइ, देव अणाइ अणंतु।

केवलणाण फुरंत तणु सो परमप्पु भणंतु ॥ ३३ ॥

भावार्थ—देहरूपी देवालयमें जो अनादिसे अनंतकाल रहनेवाला केवलज्ञानमई प्रकाशमान शरीरधारी अपना आत्मा है वही निःसंदेह परमात्मा है।

अण्णुजि तित्थ म जाहि जिय, अण्णुजि गुरउ म सेवि।

अण्णुजि देव म चित तुहुं अप्पा विमल मुएवि ॥ ९५ ॥

भावार्थ—और तीर्थमें मत जा, और गुरुकी सेवा न कर, अन्य देवकी चिंता न कर, एक अपने निर्मल आत्माका ही अनुभव कर; यही तीर्थ है, यही गुरु है, यही देव है, अन्य तीर्थ, गुरु व देव केवल व्यवहार निमित्त है।

देवालयमें साक्षात् देव नहीं है।

देहा-देवलि देउ जिणु जणु देवलिहिं णिएइ।
हासउ महु पडिहाइ इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ—(जिणु देउ देहा देवालि) श्री जिनेन्द्रदेव देह-रूपी देवालयमें है (जणु देवलिहि णिएइ) अज्ञानी मानव मंदिरोंमें देखता फिरता है (महु हासउ पडिहाइ) मुझे हंसी आती है (इहु सिद्धे भिक्ख भमेइ) जैसे इसलोकमे धनादिकी सिद्धि होने पर भी कोई भीख मांगता फिरे।

भावार्थ—यहां इस बात पर लक्ष्य दिलाया है कि जो लोग केवल जिनमंदिरोंकी बाहरी भक्तिसे ही संतुष्ट होते हैं व अपनेको धर्मात्मा समझते हैं, इस बातका बिलकुल विचार नही करते हैं कि यह मूर्ति क्या निशानी है व हमारे दर्शन करनेका व पूजन करनेका क्या हेतु है, वे केवल कुछ शुभ भावसे पुण्य बांध लेते हैं. परन्तु उनको निर्वाणका मार्ग नहीं दीख सक्ता है। बाहरी चारित्र बिना अंतरंग चारित्रके. बालूमें तेल निकालनेके समान प्रयोग है। सम्य-ग्दर्शन बिना सर्व ही शास्त्रका ज्ञान व सर्व ही चारित्र मिथ्याज्ञान व मिथ्या चारित्र है।

अपने आत्माके सच्चे स्वभावका विश्वास ही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शनके प्रकाशमें अपने आत्माको कर्मकृत विकारवश रागी, द्वेषी, संसारी माननेका अज्ञान अंधकार मिट जाता है तब ज्ञानी सम्यग्दृष्टीको अपने शरीरमें व्यापक आत्माका परमात्मारूप ही श्रद्धान जम जाता है। वह सदा अपने शरीर रूपी मंदिरमें अपने आत्मारूपी देवका निवास मानता है तथा अपने आत्माके द्वारा धनको ही सच्चा धर्म मानता है। वह सम्यक्ती कभी भ्रममें नहीं

पडता है। वस्तुओंका यथार्थ स्वरूप जानता है। वह जिनमंदिरमे जिन प्रतिमाका दर्शन, पूजन अपने आत्मीक गुणों पर लक्ष्य जानेके लिये व अपने भीतर आत्मदर्शन करनेके लिये ही करता है। वह जानता है कि मूर्ति जड है, केवल स्थापना रूप है। ध्यानका चित्र है उसमे साक्षात् जिनेन्द्र नहीं है। जो भूतकालमे तीर्थंकर या अन्य अरहंत होगए है वे अब सिद्धक्षेत्रमे हैं। वर्तमानमे इस भरतक्षेत्रमें इस पंचमकालमे नहीं है। यदि होते भी व समवशरण या गंधकुटीमे उनका दर्शन होता भी जो आखोंसे तो केवल उनका शरीर ही दिखता, आत्मा नहीं दिखता। उनका आत्मा कैसा है इस बातके जाननेके लिये तब भी अपने शरीरमे ही विराजित अपने आत्मा देवको ध्यानमे लाना पडता। वास्तवमे जो अपने आत्माके स्वभावको पहचानता है वही जिनेश्वरकी आत्माको पहचानता है।

अपने आत्माका आराधन ही उनका सच्चा आराधन है। जो अपने आत्माको नहीं समझते व बाहर आत्मा देवको ढूढते है उनके लिये हास्यका भाव ग्रथकारने बताया है व यह मूर्खता प्रगट की है कि धनका स्वामी होकर भी कोई भीख मांगता फिरे।

एक मानव बहुत लोभी था, धनको गाड कर रखता था, बाहरसे दीन दिखता था। अपने पुत्रको भी धनका पता नहीं बताया। केवल उसका एक पुराना मित्र ही इस भेदको जानता था कि इसने प्रचुर धन अमुक स्थानमे रक्खा है। कुछ काल पीछे वह मर जाता है। पुत्र अपनेको निर्धन समझकर दीनहीन वृत्ति करके पेट भरता है। एक दिन पुराने मित्रने बता दिया कि क्यों दुःखी होते हो ? तेरे पास अटूट धन है। वह अमुक स्थानमे गडा है। सुनकर प्रसन्न होता है। उस स्थान पर खोदकर धनका स्वामी हो

जाता है। फिर भी यदि वह दीन वृत्ति करे तो हास्यका स्थान है। इसी तरह जिसने आत्मा देवको शरीरके भीतर पा लिया उसको फिर बाहरी क्रियामे मोह नहीं हो सकता। कारणवश अशुभसे बचनेके लिये बाहरी क्रिया करता है तौ भी उसे निर्वाण मार्ग नही मानता। निर्वाण मार्ग तो आत्माके दर्शनको ही मानता है।

समयसारमे कहा है—

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं विमोक्खहेदुं अयाणंता ॥ १६१ ॥

भावार्थ—जो परमार्थसे बाहर है, निश्चयधर्मको नहीं समझते व मोक्षके मार्गको नही जानते हुए अज्ञानसे ससार–भ्रमणके कारण पुण्यको ही चाहते है, पुण्यकर्म बधकारक क्रियाको निर्वाणका कारण मान लेता है। **समयसार कलशमे** कहा है—

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखै कर्मभिः
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरं।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥१०–७॥

भावार्थ—कोई बहुत कठिन मोक्षमार्गमे विरुद्ध असत्य व्यवहाररूप क्रियाओंको करके कष्ट भोगो तो भोगो अथवा कोई चिरकाल जैनोके महाव्रत व तपके भारसे पीडित होते हुए कष्ट भोगो तो भोगो, परन्तु मोक्ष नही होगा। क्योंकि मोक्ष एक निराकुल पद है, ज्ञानमय है, स्वय अनुभवगोचर है, ऐसा मोक्ष विना आत्मज्ञानके और किसी भी तरह प्राप्त नहीं किया जासक्ता।

समभावरूप चित्तसे अपने देहमें जिनदेवको देख।

मूढा देवलि देउ णवि णवि सिलि लिप्पइ चित्ति।
देहा-देवलि देउ जिणु सो बुज्झहि समिचित्ति ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ—(मूढा) हे मूर्ख! (देउ देवलि णवि) देव किसी मन्दिरमें नहीं है (सिलि लिप्पइ चित्ति णवि) न देव किसी पाषाण, लेप या चित्रमें है (जिणु देउ देहा-देवलि) जिनेन्द्रदेव परमात्मा शरीररूपी देवालयमें है (समचित्ति सो बुज्झहि) उस देवको समभावसे पहचान या उसका साक्षात्कार कर।

भावार्थ—यहां फिर भी दृढ किया है कि परमात्मा देव ईंट व पाषाणके बने हुए मंदिरमें नहीं मिलेंगे, न परमात्माका दर्शन किसी पाषाण या धातुकी या मिट्टीकी मूर्तिमें होगा न किसी चित्रमें होगा। अपना आत्मा ही स्वभावसे परमात्मा जिनदेव है। उसका दर्शन यह ज्ञानी प्रायः अपने भीतर कर सक्ता है। यदि यह राग-द्वेषको छोड दे, शुभ या अशुभ राग त्याग दे, वीतरागी होकर अपनेको आठ कर्म रहित, शरीर रहित, रागादि विकार रहित देखे।

मंदिरोंका निर्माण निराकुल स्थानमें इसलिये किया जाता है कि गृहस्थी या अभ्यासी साधु वहां बैठकर सांसारिक निमित्तोंसे बचे, चित्तको बुरी वासनाओंसे रोक सके व मंदिरमें निराकुल हो आत्माका ही दर्शन सामायिक द्वारा, आध्यात्मिक शास्त्र पठन या मनन द्वारा, ध्यानमय मूर्तिके दर्शन द्वारा किया जासके। इसी तरह पाषाण या धातुकी प्रतिमाका निर्माण ध्यानमय व वैराग्यपूर्ण भावका स्मरण करानेके लिये किया जाता है। आत्माका दर्शक अपना शरीर है।

शरीरमें आत्मदेव विराजमान है जिसको इस बातका पक्का

श्रद्धान है कि उसकी धारणाको जगानेके लिये ध्यानमय मूर्तिका दर्शन व उसके सामने गुणानुवाद रूप पूजन निमित्त कारण है। निमित्त उपादानको जगानेसे प्रबल कारण होते हैं। रागकारी निमित्त राग-भाव व वीतरागी निमित्त वीतरागभाव जाग्रत कर देते हैं। अभ्यासी साधकको सदा ही भावोंकी निर्मलताके लिये निर्मल निमित्त मिलाने चाहिये, बाधक निमित्तोंसे बचना चाहिये।

तत्वानुशासनमें कहा है—

संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रतधारणं।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने ॥ ७५ ॥

भावार्थ—परिग्रहका त्याग, कषायोंका निरोध, अहिंसादि व्रतोंका धारण, मन व इंद्रियोंका विजय, ये चार बातें ध्यानकी उत्पत्तिके लिये सामग्री हैं।

स्वाध्यायाद्ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यानस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥ ८१ ॥

भावार्थ—शास्त्रका मनन करते करते ध्यानमें चढ़ जाओ। ध्यानमें मन न लगे तो स्वाध्यायमें आजाओ। ध्यान और स्वाध्यायके लाभके द्वारा परमात्माका प्रकाश होता है।

शून्यागारे गुहायां वा दिवा वा यदि वा निशि।
स्त्रीपशुक्लीबजीवानां क्षुद्राणामप्यगोचरे ॥ ९० ॥
अन्यत्र वा क्वचिद्देशे प्रशस्ते प्रासुके समे।
चेतनाचेतनाशेषध्यानविघ्नविवर्जिते ॥ ९१ ॥
भूतले वा शिलापट्टे सुखासीनः स्थितोऽथवा।
सममृज्वायतं गात्रं निःकंपावयवं दधत् ॥ ९२ ॥

नासाग्रन्यस्तनिःस्पंदलोचनो मंदमुच्छ्वसन् ।
द्वात्रिंशद्दोषनिर्मुक्तकायोत्सर्गव्यवस्थित ॥ ९३ ॥

प्रत्याहृत्याक्षलुंटाकान्तदर्थेभ्य. प्रयत्नत' ।
चिंता चाकृष्य सर्वेभ्यो निरुध्य ध्येयवस्तुनि ॥ ९४ ॥

निरस्तनिद्रो निर्भीतिर्निरालस्यो निरन्तरं ।
स्वरूपं पररूपं वा ध्यायेदंतर्विशुद्धये ॥ ९५ ॥

भावार्थ—दिन हो या रात, सूने स्थानमे, गुफामे, स्त्री, पशु, नपुंसक जीवोके व क्षुद्र जतुओंके अगोचर स्थानमे या किसी शुभ जीवरहित, समतल स्थानमे, जहां चेतन व अचेतन सर्व प्रकारके विघ्नोंका नाश हो, भूमिमे या शिला पर सुखासनसे वैठकर या खडे होकर सीधा निष्कम्प समतौल रूप शरीरको धारण करके निश्चल वने, नासाग्र दृष्टि, मंद मंद श्वास लेता हुआ वत्तीस कायोत्सर्गके दोषोंसे रहित होकर व प्रयत्न करके इद्रिय रूपी लुटेरोंको विषयोंसे रोककर व चित्तको सब भावोंसे रोककर ध्येय वस्तुको जोडकर, निद्राको जीतता हुआ, भय रहित हो, आलस्य रहित हो, निरतर अपने ही आत्माके शुद्ध स्वरूपको या पर सिद्धोंके स्वरूपको अतरगकी शुद्धिके लिये ध्यावे । समाधिशतकमे कहा है—

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं नेतरो जन ॥ ३५ ॥

भावार्थ—जिस ध्यानीका अनुराग द्वेपादिकी लहरोंसे चञ्चल नही होता है वही आत्माके स्वभावको अनुभव करता है, रागी द्वेषी अनुभव नही कर सकता है ।

ज्ञानी ही शरीर मंदिरमें परमात्माको देखता है।

तित्थइ देउलि देउ जिणु सव्वु वि कोइ भणेइ।
देहा-देउलि जो मुणइ सो बुहु को वि हवेइ ॥ ४५ ॥

अन्वयार्थ—(सव्वु वि कोइ भणेइ) सब कोई कहते है (तित्थइ देउलि देउ जिणु) कि तीर्थमे या मंदिरमें जिनदेव है (जो देहा-देउलि मुणइ) जो कोई देहरूपी मन्दिरमे जिनदेवको देखता है या मानता है (सो को वि बुहु हवेइ) सो कोई ज्ञानी ही होता है।

भावार्थ—जगतमे व्यवहारको ही सत्य माननेवाले बहुत हैं। सब कोई यही कहते है कि घडेको कुम्हारने बनाया। घडा मिट्टीका बना है, ऐसा कोई नहीं कहता है। असलमे घडेमे मिट्टीकी ही शकल है, मिट्टीका डेला ही घडेके रूपमे बदला है। कुमारके योग व उपयोग मात्र निमित्त हैं। इसी तरह तीर्थ स्वरूप जिन प्रतिमाएं केवल निमित्त है, उनके द्वारा अपने शुद्ध आत्माके सदृश परमात्मा अरहंत या सिद्धका स्मरण हो जाता है। वास्तवमे वे क्षेत्र व प्रतिमा व मन्दिर सब अचेतन जड़ है। तौभी चेतनके स्मरण करानेके लिये प्रबल निमित्त है, इसीलिये उनकी भक्तिके द्वारा परमात्माकी भक्ति की जाती है। मिथ्यादृष्टी अज्ञानी विचार नही करता है कि असली बात क्या है। वह मदिर व मूर्तिको ही देव मानके पूजता है। इससे आगे विचार नहीं करता है कि प्रतिमा तो अरहन्त व सिद्धपदके ध्यानमय भावका चित्र है। उस भावकी स्थापना है। साक्षात् देव यह नहीं है।

तथा भक्ति करते हुए भी वह भक्त उन्हींके गुणानुवाद करता है जिनकी वह मूर्ति है। वह कभी भी पाषाणकी या धातुकी प्रशसा

नहीं करता है तौभी अन्तरंगमें विचार यही करता है कि जिसकी स्तुति कर रहा हूं वह देव कहां है। यह इस रहस्यको नहीं पहुंचता है कि उसीका आत्मा ही स्वभावसे परमात्मा है। तीन शरीरोंके भीतर यही साक्षात् देव विराजमान है। मैं ही परमात्मा हूं। यह ज्ञान यह श्रद्धान व ऐसा ही परिणमन विचारे मिथ्यादृष्टीजीवको नहीं होता है।

सम्यग्दृष्टी सदा ही जानता है व सदा ही अनुभव करता है कि जब मैं अपने भीतर शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे देखता हूं तो मुझे मेरा आत्मा ही परमात्मा जिनदेव दीखता है। मुझे अपने ही भीतर आपको आपमें ही देखना चाहिये। यही आत्मदर्शन निर्वाणका उपाय है। कोई सिंहकी मूर्तिको साक्षात सिंह मानके पूजन करे कि यह सिंह मुझे खाजायगा तो उसको अज्ञानी ही कहा जायगा। ज्ञानी जानता है कि सिंहकी मूर्ति सिंहका आकार व उसकी क्रूरता व भयकरता दिखानेके लिये एकमात्र साधन है, साक्षात् सिंह नहीं है। इससे भय करनेकी जरूरत नहीं है। जहा साक्षात सिंहका लाभ नही है वहां सिंहका स्वरूप दिखानेको सिंहकी मूर्ति परम सहायक है। शिष्योको जो सिंहके आकारसे व उसकी भयकरतासे अनभिज्ञ है, सिंहकी मूर्ति सिंहका ज्ञान करानेके लिये प्रयोजनवान है।

इसी तरह जबतक व जिस समय अपने भीतर परमात्माका दर्शन न हो तबतक यह जिन मूर्ति परमात्माका दर्शन करानेके लिये निमित्त कारण है। मूर्तिको मूर्ति मानना, परमात्मा न मानना ही यथार्थ ज्ञान है। व्यवहारके भीतर जो मगन रहते है वे मूल तत्वको नहीं पहचानते है। यहा पर आचार्यने मूल तत्व पर ध्यान दिलाया है कि–हे योगी! भीतर देख, निश्चित होकर भीतर ध्यान लगा। तुझे राग द्वेषके अभाव होने पर व समभावकी स्थिति प्राप्त होने पर

परमात्माका लाभ होगा। व्यवहार वास्तवमें अभूतार्थ व असत्यार्थ है, जैसा मूल पदार्थ है वैसा इसे नहीं कहता है।

व्यवहारमें जीव नारकी पशु मनुष्य देव कहलाता है। निश्चयसे यह कहना असत्य है। आत्मा न तो नारकी है न पशु है न मनुष्य है न देव है। शरीरके सयोगसे व्यवहारनयके व्यवहार चलानेको भेद कर दिये हैं। जैसे तलवार लोहेकी होती है। सोनेकी म्यानमे हो तो सोनेकी तलवार, चांदीके म्यानमे चांदीकी तलवार, पीतलकी म्यानमें पीतलकी तलवार कहलाती है। यह कहना सत्य नही है। सब तलवारे एक ही हैं। उनमे भेद करनेके लिये सोना, चांदी व पीतलकी तलवार ऐसा कहना पडता है जो भेदरूप कथन सुन करके भी तलवारको एकरूप ही देखता है। सोना, चांदी व पीतलको नहीं देखता है। सोना चांदी पीतलकी म्यान देखता है वही ज्ञानी है। इसी तरह जो अपने देह मन्दिरमे विराजित परमात्मा देवको ही आप देखता है, आपको मानवरूप नहीं देखता है। मानव तो शरीर है आत्मा नहीं है वही ज्ञानी है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपायमे कहा है—

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुख· प्राय. सर्वोऽपि संसार ॥ ५॥
माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयता यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥ ७॥

भावार्थ—निश्चयनय यथार्थ वस्तुको कहता है, व्यवहारनय वस्तुको यथार्थ नहीं कहता है, इसलिये सर्वज्ञ देव निश्चयको भूतार्थ व व्यवहारको अभूतार्थ कहते है। बहुधा सर्व ही संसारी इस भूतार्थ निश्चयके ज्ञानसे दूर है। जिस बालकने सिंह नही जाना है वह बिलावको ही सिंह जान लेता है, क्योंकि बिलाव दिखाकर उसे

सिद्द कहा गया था, उसीतरह जो निश्चयतत्वको नहीं जानता है वह व्यवहार हीको निश्चय मान लेता है। वह कभी भी सत्यको नहीं पाता है।

धर्म रसायनको पीनेसे अमर होता है।

जइ जर-मरण-करालियउ तो जिय धम्म करेहि।
धम्म-रसायणु पियहि तुहुँ जिम अजरामर होहि ॥४६॥

अन्वयार्थ—(जिय) हे जीव! **(जइ जरमरणकरालियउ)** यदि जरा व मरणके दुःखोंसे भयभीत है **(तो धम्म करेहि)** तो धर्म कर **(तुहुं धम्मरसायणु पियहि)** तू धर्मरसायनको पी **(जिम अजरामर होहि)** जिससे तू अजर अमर होजावे।

भावार्थ—मनुष्यगतिको लक्ष्यमे लेकर कहा है कि यहा जरा व मरणके भयानक दुःख है। जब जरा आजाती है, शरीर शिथिल होजाता है, अपने शरीरकी सेवा स्वय करनेको असमर्थ होजाता है, इंद्रियोंमे शक्ति घट जाती है, आंखकी ज्योति कम पडजाती है, कानोमे सुननेकी शक्ति कम होजाती है, दांत गिर जाते है, कमर टेढी होजाती है, हाथ पांव हिलने लगते है, खाने पीनेमे कष्ट पाता है, चलने बैठनेमे पीडा पाता है।

इच्छानुसार समय पर भोजनपान नही मिलता है। अपने कुटु-म्बीजन भी आज्ञा उल्लघन करने लग जाते है। शरीरमे विषयोके भोग करनेकी शक्ति घट जाती है, परन्तु भोगकी तृष्णा बढ जाती है। तब चाहकी दाहसे जलता है, गमन नही कर पाता है, रातदिन मरणकी भावना भाता है। जरा महान दुःखदायी मरणकी दूती है, शरीरकी दशा क्षणभगुर है, युवावय थोड़ा काल रहती है फिर यकायक बुढापा

आ घेरता है तब एक एक दिन वर्षके बराबर बीतता है।

मरणका दुःख भी भयानक होता है। मरनके पहले महान कष्ट-दाई रोग होजाता है तब महान वेदना भोगता है। असमर्थ होकर कुछ भी कह सुन नही सक्ता है। जब तक शरीरका ग्रहण है तब-तक जन्म जरा मरणके भयानक दुःखोंको सहना पडेगा। मानव जन्मके दुःखोंसे पशुगतिके महान् दुःख है जहां सबलोंके द्वारा निर्बल वध किये जाते है। पराधीनपने एकेन्द्रियादि जन्तुओंको महान शारीरिक पीडा सहनी पडती है।

आगमके द्वारा नरकके असहनीय कष्ट तो विदित ही है। देव गतिमे मानसिक कष्ट महान् है, ईर्षाभाव बहुत है, देवियोंकी आयु बहुत अल्प होती है तब देवोंको वियोगका घोर कष्ट सहना पड़ता है। विषयभोग करते हुए तृष्णाकी दाह बढाकर रातदिन आकुलित रहते है, चारो ही गतियोमे कर्मका उदय है। इन गतियोंके भ्रमणसे रहित होनेके लिये कर्मके क्षय करनेकी जरूरत है। विवेकी मानवको भलेप्रकार निश्चय कर लेना चाहिये कि ससार—सागर भयानक दुख-रूपी खारे पानीसे भरा है, उससे पार होना ही उचित है। कर्मोंका क्षय करना ही उचित है, आत्माका भ्रमण रोकना ही उचित है। पचमगति मोक्ष प्राप्त करना ही उचित है, अजर—अमर होना ही उचित है, इस श्रद्धानके होनेपर ही मुमुक्षु जीव ससारके क्षयके लिये धर्मका साधन करता है।

धर्म उसे ही कहते है जो संसारके दुःखोंसे उगारकर मोक्षके परमपदमें धारण करे। वह धर्म रत्नत्रय स्वरूप है। रत्नत्रयके भावसे ही नवीन कर्मोंका संवर होता है व पुरातन कर्मोंकी अविपाक निर्जरा होती है। यह रत्नत्रय निश्चयसे एक आत्मीक शुद्धभाव है, आत्मतल्ली-नता है, स्वसंवेदन है, स्वानुभव है, जहां अपने ही आत्माके शुद्ध स्वभा-

वका श्रद्धान है, ज्ञान है व उसीमें थिरता है। इसीको आत्मदर्शन कहते हैं, यही एक धर्म रसायन है, अमृतरसका पान है, जिसके पीनेसे स्वाधीनपने परमानन्दका लाभ होता है, कर्म कटते है, और यह शीघ्र ही कर्मसे मुक्त हो, शुद्ध व पवित्र व निर्मल व पूर्ण, निज स्वभावमय होकर सदा ही वीतरागभावमे मगन रहता है, फिर रागद्वेपमोहके न होनेसे पापपुण्यका वन्ध नहीं होता हे, इससे फिर चार गतिमेसे किसी भी गतिमे नहीं जाता है, सदाके लिये अजर अमर हो जाता हे।

शुद्धोपयोग धर्म है। कषायके उदय सहित शुभोपयोग धर्म नही है। अशुभसे वचनेके लिये शुभोपयोग करना पड़ता है तथापि उसे बन्धका कारण मानना चाहिये। मोक्षका उपाय एक मात्र स्वानुभवरूप शुद्धोपयोग है। कषायकी कणिका मात्र भी वन्धकी कारक है। **बृहत् सामायिकपाठमे** कहा है—

पापाऽनोकुहसंकुले भवनने दु खादिभिर्दुर्गमे
येरज्ञानवश. कषायविपयैस्त्वं पीडितोऽनेकधा।
रे तान् ज्ञानमुपेत्त्य पूतमधुना विध्वंसयाऽशेषतो
विद्वासो न परित्यजंति समये शत्रूनऽहत्वा स्फुटं ॥ ६५ ॥

भावार्थ—यह संसार वन दु:खोंसे भरा है, उनका पार पाना कठिन है। पापके वृक्षोंसे पूर्ण है। यहा कषाय विपयोंसे तू अज्ञानी अनेक प्रकारसे पीडित किया जा रहा है, अब तू शुद्ध आत्मज्ञान पाकर उन कपाय विपयोंको पूर्णपने नाश कर डाल। विद्वान लोग अवसर पाकर शत्रुओंको विना मारे नहीं छोडते है।

श्री पद्मनदि **धम्मरसायणमे** कहते हे —

बुहजणमणोहिरामं जाइजरामरणदुक्खणासयरं।
इहपरलोयहिज (द)त्थं तं धम्मरसायणं वोच्छं ॥ २ ॥

भावार्थ—मैं उस धर्मरसायणको बताऊँगा जिसके पीनेसे ज्ञानी जीवोंके मनमें आनन्द होगा व जन्म, जरा, मरणके दुःखोंका क्षय होगा व इस लोकमे और परलोकमे दोनोंमें हित होगा। यह जबतक जीवेगा परमानन्द भोगेगा, परलोकमे शीघ्र ही सिद्ध होकर सदा सुखी रहेगा।

बाहरी क्रियामें धर्म नहीं है।

धम्मु ण पढियइँ होइ धम्मु ण पोत्था-पिच्छियइँ।
धम्मु ण मढिय-पएसि धम्मु ण मत्था-लुंचियइँ॥४७॥

अन्वयार्थ—(पढियइँ धम्मु ण होइ) शास्त्रोंके पढने मात्रसे धर्म नही होजाता (पोत्था-पिच्छियइँ धम्मु ण) पुस्तक व पीछी रखने मात्रसे धर्म नही होता (मढिय-पएसि धम्मु ण) किसी मठमें रहनेसे धर्म नहीं होता (मत्था-लुंचियइँ धम्मु ण) केशलोंच करनेसे भी धर्म नही होता।

भावार्थ—जिस धर्मसे जन्म, जरा, मरणके दुःख मिटे, कर्मोंका क्षय हो यह जीव स्वाभाविक दशाको पाकर अजर–अमर होजावे वह धर्म आत्माका निज स्वभाव है। जो सर्व परपदार्थोंसे वैराग्यवान होकर अपने आत्माके शुद्ध स्वभावकी श्रद्धा व उसका ज्ञान रखकर उसीके ध्यानमे एकाग्र होगा वही निश्चय रत्नत्रयमई धर्मको या स्वानुभवको या शुद्धोपयोगकी भूमिकाको प्राप्त करेगा।

जो कोई उस तत्वको ठीक ठीक न समझ करके बाहरी क्रिया मात्र व्यवहारको ही करे व माने कि मै धर्मका साधन कर रहा हूं उसको समझानेके लिये यहां कहा है कि ग्रंथोंके पढनेसे ही धर्म न होगा। ग्रंथोंका पठन पाठन इसीलिये उपयोगी है कि जगतके पदा-

र्योंका, जीव व अजीव तत्वका ठीक ठीक ज्ञान होजावे तथा भेदवि-ज्ञानकी प्राप्तिसे अपने भीतर शुद्ध तत्वकी पहचान होजावे ।

इस कार्यके लिये शब्दोंका मनन आवश्यक है। यदि शुद्धात्माका लाभ न करे केवल शास्त्रोका पाठी महान विद्वान व वक्ता होकर धर्मात्मा होनेका अभिमान करे तो यह सब मिथ्या है। इसीतरह कोई बहुत पुस्तकोंका संग्रह करे या पीछी रखकर साधु या क्षुल्लक श्रावक होजावे या केशोंका लोंच करे या एकात मठमे या गुफामे बैठे परंतु शुद्धात्माकी भावना न करे, बाहरी मुनि या श्रावकके भेषको ही धर्म मानले तो यह मानना मिथ्या है। शरीरके आश्रय भेष केवल निमित्त है, व्यवहार है, धर्म नहीं है।

व्यवहार क्रियाकांडसे या चारित्रसे रागभाव शुभ भाव होनेसे पुण्यबंधका हेतु है। परतु कर्मकी निर्जरा व सवरका हेतु नहीं है। जहा-तक भावोंमे शुद्ध परिणमन नहीं होता है वहातक धर्मका लाभ नहीं है। मुमुक्षु जीवको यह बात दृढतासे श्रद्धानमे रखनी चाहिये कि भावकी शुद्धि ही मुनि या श्रावक धर्म है। बाहरी त्याग या वर्तन अशुभ भावोंसे व हिंसादि पांच पापोंसे बचनेके लिये है व मनको चिंतासे रहित निराकुल करनेके लिये है।

अतएव कितना भी ऊँचा बाहरी चारित्र कोई पाले व कितना भी अधिक शास्त्रका ज्ञान किसीको हो तौ भी वह निश्चय धर्मके विना साररहित है, चावलरहित तुषमात्र है, पुण्यबन्ध कराकर ससारका भ्रमण बढानेवाला है। जितना अश वीतराग विज्ञानमई भावका लाभ हो उतना ही धर्म हुआ तथा यथार्थ समझना चाहिये। बाहरी मन, वचन, कायकी क्रियासे सन्तोष मानके धर्मात्मापनेका अहंकार न करना चाहिये। **समयसार कलश**मे कहा है—

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते ।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिङ्गं मोक्षकारणम् ॥ ४५–१० ॥
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥ ४६–१० ॥

भावार्थ—शुद्ध ज्ञान आत्माका है, उसके यह पुद्गलमय देह नहीं है, इसलिये ज्ञाता पुरुषका देहके आश्रय भेष या व्यवहारचारित्र मोक्षका कारण नहीं है। इसलिये मोक्षके अर्थीको सदा ही एक-स्वरूप मोक्षमार्गका सेवन करना चाहिये जो मोक्षमार्ग निश्चय रत्नत्रयमई आत्माका तत्व है।

बृहत् सामायिकपाठमे कहते है—

शूरोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाऽधिकश्रीरहं
मान्योऽहं गुणवानहं विभुरहं पुंसामहमग्रणीः ।
इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरी त्वं सर्वथा कल्पना
शश्वद्ध्याय तदात्मतत्त्वममलं नैःश्रेयसी श्रीर्यतः ॥ ६२ ॥

भावार्थ—हे आत्मन्! तू इस पाप बंधकारक कल्पनाको छोड़, यह अहकार न कर कि मैं शूर हूं, बुद्धिमान् हू, चतुर हूं, सर्वसे अधिक लक्ष्मीवान हूं, माननीय हू, गुणवान हूं, समर्थ हू या सर्व मानवोमे अग्र हूं, मुनिराज हूं, निरन्तर निर्मल आत्मतत्वका ही ध्यानकर इसीसे अनुपम मोक्षलक्ष्मीका लाभ होगा।

रागद्वेष त्याग आत्मस्थ होना धर्म है।

राय-रोस बे परिहरिवि जो अप्पाणि वसेइ ।
सो धम्मु वि जिण-उत्तियउ जो पंचम-गइ णेइ ॥४८॥

अन्वयार्थ—(राय-रोस बे परिहरिवि) रागद्वेष दोनोंको

छोडकर, वीतराग होकर (जो अप्पाणि वसेइ) जो अपने भीतर आत्मामें वास करता है, आत्मामें विश्राम करता है (सो धम्मु जिण त्रि उत्तियउ) उसीको जिनेन्द्रने धर्म कहा है (जो पंचम-गइ णेइ) वही धर्म पचमगति मोक्षमें लेजाता है।

भावार्थ—धर्म आत्माका निज स्वभाव है। ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यमय आत्माका यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान तथा उसीमें थिरता अर्थात् एक स्वात्मानुभव धर्म है। राग द्वेषकी पवनोंसे जब उपयोग चचल होता है तब स्वभाव विकारी होजाता है।

इसलिये यहां यह उपदेश है कि राग द्वेषको त्यागकर अपने ही आत्माके भीतर विश्राम करो, आत्मारामें मगन रहो, आत्माके ही उपवनमें रमण करो तब वहां बन्ध नाशक, परमानंद दायक, मोक्ष-कारक धर्म स्वय मिल जायगा। धर्म अपने ही पास है, कहीं बाहर नहीं है जहांसे इसे ग्रहण किया जावे। अतएव परसे उदासीन होकर, वीतराग होकर, स्नतभावी होकर आपको आत्मामें ही इसे देखना चाहिये।

राग द्वेषके मिटानेका एक उपाय तो यह है कि जगतको व्यव-हार दृष्टिसे देखना बद कर निश्चय दृष्टिसे जगतको देखना चाहिये तब जीवादि छहों द्रव्य सब अपने २ स्वभावमें दीखेंगे, निश्चल दीखेंगे, सर्व ही जीव एक समान शुद्ध दीखेंगे तब किसी जीवमें राग व किसीमें द्वेष करनेका कारण ही मिट जायगा। व्यवहार दृष्टिसे शरीर सहित अशुद्ध आत्माएं विचित्र प्रकारकी दीखती हैं तब मोही जीव जिनसे अपने विषय कषाय पुष्ट होते हैं उनको राग भावसे व जिनसे विषयकषायोंके पोषनेमें बाधा होती है उनको द्वेषभावसे देखता है परन्तु जब आप भी वीतरागी व सर्व पर आत्माएं भी वीतरागी दीखती हों तब समभाव स्वयं आजाता है।

पुद्गलकीरचनाको जब व्यवहारमें देखा जावे तब नगर, ग्राम, मकान, वस्त्र, आभूषण, आदि नाना प्रकारके दीख पड़ेंगे परन्तु जब निश्चयनयसे पुद्गलको देखा जावे तो वे सब परमाणुरूप एकाकार दीखेंगे, तब वीतरागी देखनेवालेके भीतर रागद्वेषके हेतु नहीं हो सक्ते। शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि रागद्वेषके विकार मेटनेकी परम सहायक है। इसमें रागद्वेष मेटनेका यह उपाय है कि व्यवहाररूप विचित्र जगतको साक्षीभूत होकर ज्ञातादृष्टा होकर देखा जावे।

सर्व ही द्रव्य अपने २ स्वभावमें परिणमन करते हैं। अशुद्ध आत्माएं आठ कर्मोंके उदयको भोगते हुए नानाप्रकार सुख या दुःखमय या नानाप्रकार रागद्वेषमय परिणमन करते हैं, कर्मचेतना व कर्मफल-चेतनामें उलझे दीखते हैं, तब उनको कर्मके उदयके आधीन देखकर रागद्वेष नहीं करना चाहिये। कर्मोंके संयोगसे अपनी भी विभाव दशाको देखकर विपाकविचय धर्मध्यान करना चाहिये व अन्य संसारी जीवोंकी दशा देखकर वैसा ही कर्मका नाटक विचारना चाहिये। सुख व दुःख अपनेमें व दूसरोंमें देखकर हर्ष व विषाद न करना चाहिये। समभावसे कर्मके विचित्र नाटकरूप जगतको देखनेका अभ्यास करना चाहिये।

तीसरा उपाय यह है कि सम्यग्दर्शनके प्रतापसे विषयभोगोंकी कांक्षा या उनमें उपादेय बुद्धि मिटा देनी चाहिये। आत्मानन्दका प्रेमी होकर उसीके लिये अपने स्वरूपकी भावनामें लगे रहना चाहिये। कर्मके उदयसे सुखदुःख आ जानेपर समभावसे या हेय बुद्धिसे, अनासक्तिसे भोग लेना चाहिये। सम्यग्ज्ञान ही रागद्वेषके विकारके मिटानेका उपाय है।

रागद्वेष कषायके उदयसे होते हैं तब सत्तामें बन्ध प्राप्त कषायकी वर्गणाओंका अनुभाग सुखानेके लिये निरन्तर आत्मानुभवका

पांचके जोड़ोंसे रहित व दश गुण सहित आत्माको ध्यावे।

वे-पंचहँ रहियउ मुणहि वे-पंचहँ संजुत्तु।

वे-पंचहँ जो गुणसहिउ सो अप्पा णिरु वुत्तु ॥ ८० ॥

अन्वयार्थ—(वे-पंचहँ रहियउ) दो प्रकार पांचोंसे रहित होकर अर्थात् पाच इन्द्रियोंको रोककर व पाच अव्रतोंको त्यागकर (वे-पंचहँ संजुत्तु मुणहि) दो प्रकार पाच अर्थात् पाच इंद्रिय-दमनरूप संयम व पाच महाव्रत सहित होकर आत्माका मनन करो (जो वे-पंचहँ गुणसहिउ सो अप्पा णिरु वुत्तु) जो दश गुण उत्तम क्षमादि सहित है व अनतज्ञानादि दश गुण सहित है उनको निश्चयसे आत्मा कहा जाता है।

भावार्थ—आत्माका मनन निश्चिन्त होकर करना चाहिये। पांच इंद्रियोंके विषयोंमें उलझा हुआ उपयोग आत्माका मनन नहीं कर सकता। इसलिये पाच इंद्रियोंको सयममें रखना चाहिये। इन्द्रियविजयी होना चाहिये व जगतके आरम्भसे छूटनेके लिये हिंसा असत्य स्तेय, अब्रह्म, परिग्रह इन पाच अविरत भावोंसे विरक्त होकर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग इन पाच महाव्रतोंको पालना चाहिये। साधुपदमें द्रव्य व भाव दोनो रूपसे निर्ग्रंथ होकर एकाकी भावसे शुद्ध निश्चयनयके द्वारा अपने शुद्धात्माका मनन करना चाहिये।

भेद दृष्टिसे आत्माका मनन करते हुए उसको दश लक्षणरूप विचारना चाहिये। यह आत्मा क्रोध विकारके अभावसे पृथ्वीके समान उत्तम क्षमा गुण धारी है, मानके अभावसे उत्तम मार्दव गुण

धारी है, मायाके अभावसे उत्तम आर्जव गुण धारी है, असत्य ज्ञानके अभावसे उत्तम सत्य धर्म धारी है। लोभके अभावसे उत्तम शौच गुण धारी है, असयमके अभावसे स्वरूपमे रमणरूप उत्तम संयम गुण धारी है। सर्व इच्छाओंका अभाव होनेसे आत्माका एक शुद्ध वीतराग भावसे तपना एक उत्तम गुण है। यह आत्मा परम तपस्वी है, यह आत्मा अपनी शुद्ध परिणतिको या आत्मानन्दको आपके लिये दान करता है, यही इसका उत्तम त्याग धर्म है। इस आत्माके उत्तम आकिंचन्य गुण है। इस आत्माके भीतर अन्य आत्माओंका, पुद्गल द्रव्यका, धर्म, अधर्म, काल, आकाशका अभाव है, यह पूर्ण अपरिग्रहवान है, परम असंग है। यह आत्मा उत्तम ब्रह्मचर्य गुणका धारी है, निरन्तर अपने ब्रह्म-भावमे मगन रहनेवाला है। इसतरह दश लक्षणोंको विचारे अथवा अपने आत्माको दश गुण सहित विचारे।

यह आत्मा अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र, अनंत दान, अनत लाभ, अनत भोग, अनंत उपभोग, अनत वीर्य, अनत सुख, इन दश विशेष गुणोंका धारी परमात्मा स्वरूप है। यह सर्वज्ञ व सर्वदर्शी होकर भी आत्मज्ञ व आत्मदर्शी है। यह ज्ञेयकी अपेक्षा सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहलाता है। शुद्ध सम्यग्दर्शनका धारी होकर निरन्तर आत्म प्रतीतिमे वर्तमान है। सर्व कषाय भावोंके अभावसे परम वीतराग यथाख्यात चारित्रसे विभूषित है। आपके आनदको आपको देता है, अनत दान करनेवाला है, निरतर स्वात्मानंदका लाभ करना ही अनंत लाभ है। स्वात्मानदका ही निरंतर भोग है अपने आत्माका ही वार वार उपभोग है। गुणोंके भीतर परिणमन करते हुए कभी भी खेद नही पाता यही अनत वीर्य है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोह व अन्तराय कर्मोंसे रहित होकर अनतसुखका स्वाद है।